Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 28, अंक 1
जनवरी 2014

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 28 अंक 1 जनवरी, 2014

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, 21/4, कैवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. आत्म और भ्रष्टाचार 5
यशदेव शल्य

2. प्रत्यक्ष, अवधारण और धार्मिक प्रतीकात्मकता 12
अशोक वोहरा

3. तत्त्वमीमांसा की मानवोचित विवक्षा 31
अभिमन्यु सिंह

4. कांट के दर्शन का तात्पर्य – III 44
कृष्णचंद्र भट्टाचार्य
अनुवादक : मुकुन्द लाठ

5. माज़रत : प्लेटो प्रणीत आपोलॉजी का हिन्दी अनुवाद 66
अनुवादक : राकेश चन्द्रा एवं प्रशांत शुक्ला

6 पुस्तक–समीक्षा 105
गाँधी के 'मैं' में अहिंसा के 'हम' की जवाब–तलबी
अम्बिकादत्त शर्मा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्म और भ्रष्टाचार

यशदेव शल्य

आत्म केवल आत्मचेतन प्राणी में ही होता है और वह प्राणी केवल मनुष्य ही है। जो प्राणी आत्मचेतन नहीं होते उनमें आत्म होने का प्रश्न ही नहीं उठता, और जिस प्राणी में आत्म–चेतना नहीं है और इस प्रकार आत्म नहीं है उसमें भ्रष्टता होने की बात भी नहीं हो सकती। संस्कृत में एक बहुत प्रसिद्ध श्लोक है –

आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिकोविशेषः, धर्मेणहिनाः पशुभिः समाना।।

हम देखते ही हैं कि पशु को हम दुराचारी या सदाचारी नहीं कहते, केवल मनुष्य को ही ये विशेषण देते हैं। किन्तु आत्मचेतना के साथ किसी कर्म को सत् और किसी कर्म को असत् आँकने का आधार क्या है? एक अंग्रेज़ कवि मैथ्यू आर्नल्ड का कहना है कि अपने–आप में कुछ अच्छा या बुरा नहीं होता, केवल हमारी सोच ही किसी कर्म को अच्छा या बुरा बनाती है। यूरोपीय पॉजिटिविस्ट (इन्द्रियेकप्रामाण्यवादी) और हमारे चारवाक दार्शनिक भी ऐसा ही कहते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। यह ठीक है कि अच्छे और बुरे–सत् और असत्–विशेषणों के विशेष्य साधारण रूप से अलग–अलग समाजों में अलग–अलग होते हैं, किन्तु कुछ विशेष्य ऐसे भी हैं जो सब समाजों में असत् ही कहे जाएंगे – जैसे असत्य बोलना, विश्वासघात और दुराचार आदि। यदि ऐसा नहीं भी होता तो भी यह मूलबोध कि कुछ अच्छा है और कुछ बुरा, यह मनुष्य में सर्वव्यापक होना आवश्यक था। इस बोध का मूल मनुष्य के आत्मचेतन होने में ही है। आत्मचेतना मनुष्य में 'आत्मा' को प्रतिष्ठित करती है और इस आत्मा का स्वरूप होता है, जिसे मनुष्य को जानना–समझना होता है। इसी से हमारे यहाँ 'आत्मानं विद्धि' (आत्मा को, अपने को, जानो) कहा गया है। कहते हैं कि प्लेटो की अकादमी के द्वार पर भी यही लिखा हुआ था – नो दाई सेल्फ।

किन्तु 'आत्मा का स्वरूप क्या है, यह कैसे निश्चित हो? यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन है किन्तु इसका उत्तर हो ही नहीं, ऐसा नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यदि कोई उत्तर होता ही नहीं तो 'आत्मा को जानो' न तो ऐसा कहा जा सकता था और नहीं 'सदाचार' और 'भ्रष्टाचार' जैसे शब्द ही हो सकते थे। यहाँ महाभारत में दुर्योधन के ये शब्द –'धर्म को जानता हूँ किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है और अधर्म को भी जानता हूँ किन्तु उससे अपने को रोक नहीं पाता' – ध्यातव्य है। ऐसा हमारे सबके साथ है। हम यह सहज रूप से ही जानते होते हैं कि 'यह कर्म उचित नहीं है', किन्तु लोभ या क्रोधवश होकर हम अपने को उससे रोक नहीं पाते, या कोई गलत युक्ति देकर वह कार्य कर लेते हैं। अंग्रेजी में इसे रैश्नलाइज़ेशन कहते हैं। कभी–कभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति भी होती है जिसे लक्षित कर गीता में कहा गया है "किं कर्त्तव्यं किमकर्त्तव्यं कवयोऽप्यत्रमोहिताः।" कहते हैं महात्मा गाँधी ऐसी स्थिति होने पर उपवास रखकर एकान्त में बैठते थे और 'आत्मा की आवाज़' सुनने का प्रयत्न करते थे। यदि गाँधीजी जैसे महात्मा, या कहें शुद्धात्मा, की यह स्थिति थी तो हमारे जैसे सामान्य व्यक्तियों की तो फिर बात ही क्या है! किन्तु ऐसी स्थिति में किये गए अनुपयुक्त कर्म को भी अनुचित या भ्रष्ट कर्म नहीं कहा जाता। किसी कर्म को भ्रष्ट केवल तभी कहा जाता है जब कोई यह जानते हुए भी कि यह कर्म अनुचित है, किसी स्वार्थवश करता है।

यहाँ 'स्वार्थ' शब्द पर विचार आवश्यक है। 'स्वार्थ' अर्थात् 'पर के हित–अहित की उपेक्षा कर अपने ही हित की चिन्ता करना।' इसे भी सब समाजों में अनुचित ही माना जायगा। इस सम्बन्ध में भी एक उक्ति है– "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।" अर्थात् जो कर्म अपने हित के विपरीत हो उसे दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए। यहाँ पुनः मनुष्य की सामाजिकता को उसकी वैयक्तिकता के ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है। इस प्रकार, इस विचार के अनुसार, और वास्तव में सभी नैतिक विचार के अनुसार, मनुष्य की आत्मा का तत्त्व व्यक्तिमूलक नहीं होकर सार्वभौम है।

अब, मनुष्य की आत्मा का स्वरूप 'सार्वभौम' करने पर मांस–भक्षण भी अनुचित ठहरता है, किन्तु मनुष्य सामान्यतः ही मांस--भक्षी है। रामायण में भगवान् राम तक के हरिण का शिकार करने का उल्लेख है। भारत में मांस–भक्षण का निषेध केवल जैनों में, और अंशतः बौद्धों में मिलता है, बाद में वैष्णव धर्म में, जो एक मध्यकालीन मूल का धर्म है, मिलता है। शेष विश्व में सर्वत्र मनुष्य मांस–भक्षी है। इस प्रकार 'परेषां' का अर्थ 'अन्य मनुष्यों में' ही ठहरता है, पशु–पक्षियों में नहीं। इधर इस बोध में अन्य प्राणियों का भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समावेश किया गया है और खाने के लिए पशुओं का वध करते हुए पहले इंजेक्शन लगाकर उन्हें अचेत कर दिया जाता है। किन्तु ये केवल आंशिक उपाय ही हैं, क्योंकि खाने के लिए पशुओं का वध तो किया जाता ही है, मनुष्य का वध तो नहीं किया जाता। इस प्रकार 'पर' के सम्बन्ध में चिन्ता को लेकर हमारी कुछ सीमाएँ हैं। अब युद्ध को ही लें। युद्ध मनुष्य–समाजों में आदिकाल से होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं। इनमें जो विरोधी सेना के जितने अधिक सैनिकों का वध करता है उतना ही वीर माना जाता है, और वीरता मनुष्य का बहुत बड़ा गुण माना जाता है। मनुष्य के सम्पूर्ण इतिहास में सम्राट अशोक ही एक अपवाद हैं जो शत्रु–सैनिकों को मरे पड़े देख कर द्रवित हुए थे और उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। उनके बाद इधर महात्मा गाँधी हुए जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता–संग्राम के लिए अहिंसा को सार्वजनिक आचरण के रूप में स्वीकार किया था। अन्यथा अहिंसा को इस प्रकार कभी स्वीकार नहीं किया गया। इस प्रकार कह सकते हैं कि हिंसा को किसी ने आत्मा की भ्रष्टता के रूप में नहीं देखा। यों हिन्दु धर्म में आचरण के नियमों में अहिंसा को सब से प्रथम आचार–नियम के रूप में रखा गया है – अहिंसा परमोधर्मः।

तब क्या इसका अर्थ है कि मनुष्य अधिकांश में आत्मा में भ्रष्ट होने पर भी इस तथ्य को देख नहीं पाता, केवल स्थूल रूप में ही देख पाता है? ऐसा कहने में कोई ग़लती नहीं होगी। यहाँ पुनः गीता के इस श्लोक का स्मरण स्थाने होगा कि 'किं कर्मकिमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।" अर्थात् कौन सा कर्म करना उचित है और कौन सा कर्म करना अनुचित, इस विवेक में बड़े–बड़े सुधी–जन भी असमंजस में पड़ जाते हैं।

किन्तु यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि क्या ऐसे कर्म को भ्रष्टाचार कहा जा सकता है जो किसी प्रकार अनुचित तो हो किन्तु वह ज्ञानपूर्वक नहीं किया गया हो? समाजों में ऐसी बहुत सी प्रथाएँ होती हैं जिन्हें अनुचित कहा जा सकता है किन्तु वे चलती हैं और व्यक्ति उनका सहज भाव से अनुसरण करते हैं। जैसे मध्यकाल में हिन्दुओं में बाल–विवाह की प्रथा थी और पति के मर जाने पर लड़कियाँ छोटी आयु में ही विधवा हो जाती थीं और आजीवन इस शाप को झेलती थीं। इसके विपरीत पुरुष पत्नी के मरते ही दूसरा विवाह कर लेते थे, कभी–कभी तो पत्नी की शव–यात्रा में ही दूसरी किसी लड़की के पिता अपनी लड़की के विवाह का प्रस्ताव रख देते थे। इन प्रथाओं को सहज ही अनुचित कहा जा सकता है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और इस प्रकार इन्हें सामाजिक भ्रष्टाचार कहा जा सकता है। किन्तु साधारणतः 'भ्रष्टाचार' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के आचरण को लेकर ही होता है। इस लेख के शीर्षक में भी यही निहित है। इन दिनों 'भ्रष्टाचार' शब्द साधारणतः राजकीय कर्मचारियों द्वारा किसी कार्य के लिए अनुचित पैसा लेने के लिए ही प्रयुक्त होता है। इन दूसरे प्रकार के कार्यों के लिए 'भाई–भतीजावाद' जैसे कुछ शब्द भी प्रचलित हैं।

अब यहाँ 'आत्म' शब्द के अर्थ और इसके प्रयोग पर विचार करना भी स्थाने होगा। साधारणतः 'आत्म' शब्द मनुष्य के अपने–पन के लिए होता है, किन्तुं यहाँ यह शब्द 'आत्म–बोध' का वाचक है। यों भी आत्म–बोध के बिना आत्म नहीं होता, जैसा कि हमने लेख के आरम्भ में ही कहा। यह आत्म–बोध ही मनुष्य में सदसद् विवेक का मूल है। यदि व्यक्ति कार्य करते हुए यह देखे कि क्या यह कार्य करना मेरे स्वरूप के अनुकूल है, 'अपनी आत्मा की आवाज़' को सुने, तो वह सहज ही यह देख पायेगा कि वह कार्य उसे करना चाहिए या नहीं? तब यदि वह किसी लोभ या क्रोध आदि वश वह कार्य करता भी है तो वह उसे उतनी लगन से, उतने सहज भाव से नहीं कर पायेगा और धीरे–धीरे वह ऐसे कार्यों से बचने लगेगा। 'आत्म और भ्रष्टाचार' इस शब्द–युगल में ही यह निहित है कि कुछ आचरण ऐसे होते हैं जो मनुष्य को उसके अपने स्वरूप से दूर करने वाले होते हैं। अर्थात्, मनुष्य का कुछ स्वरूप है और वह शुद्ध और महत् है। उस स्वरूप को हम अपने भीतर देख सकते हैं। इस दृष्टि के कारण ही मनुष्य का समाज पशु–पक्षियों से भिन्न होता है। मनुष्य–समाज एक नैतिक सत्ता है, यह समूहमात्र नहीं है। इसे लेकर एक बहुत सुन्दर श्लोक है –

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे सर्वं त्यजेत्।।

यहाँ 'आत्मा' का अर्थ व्यक्ति नहीं है बल्कि आत्म–तत्त्व है, जो सर्वव्यापक चैतन्य है। महात्मा गाँधी या रामकृष्ण परमहंस व्यक्ति नहीं थे, वे मानव–तत्त्व के मूर्त्त स्वरूप थे। यों बहुत सीमा तक हम सभी अपने को पर की सापेक्षता में ही देखते हैं, किन्तु जो जितना ही पर को प्राथमिकता देता है और स्व को गौण रखता है वह उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। भ्रष्टाचार का मूल यह आत्मपरकता, स्वार्थता ही है। मनुष्य को 'सामाजिक प्राणी' कहा जाता है। अधिकांश जीव व्यक्तिपरक (आत्मपरक) ही होते हैं, किन्तु अपने बच्चों के प्रति वात्सल्य में प्रायः सभी जीव अपने बच्चों को अपने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऊपर वरीयता देते हैं। कुछ कृमि–कीट सहज रूप से समूहपरक ही होते हैं, उन्हें 'सामाजिक' भी कह सकते हैं। चींटियाँ, दीमक और मधुमक्खियाँ ऐसे ही कृमि हैं। कहा जा सकता है कि इन जीवों में समूहपरकता है किन्तु इन जीवों में आत्मपरकता होती ही नहीं है। किन्तु उनकी इस समूहपरकता को परार्थभाव नहीं कहा जा सकता। परार्थभाव वहाँ कहा जाता है जहाँ व्यक्ति में स्वार्थपरकता सहज हो और इस सहजभाव को हटाकर व्यक्ति पर को अपने ऊपर प्राथमिकता दे। संस्कृत में एक नीति–वचन है – आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेतं। अर्थात् दूसरे द्वारा अपने प्रति किया गया जैसा व्यवहार अपने को बुरा लगे वैसा व्यवहार हमें दूसरे के साथ नहीं करना चाहिए। यहाँ पुनः व्यक्ति के लिए अपना अतिक्रमण करने का परामर्श है, किन्तु यह अपना अतिक्रमण मनुष्य के आत्म–लाभ के लिए ही होता है। इसमें व्यक्ति का अपना विस्तार होता है, वह 'भूमा' होता है। इसके उदाहरण रूप में भगवान् राम और भगवान् कृष्ण को देखा जा सकता है। इनके व्यक्तित्व की महत्ता इनकी पर–परकता में ही थी। इसके विपरीत भाव में आत्म की क्षुद्रता होती है। किसी व्यक्ति के लिए 'स्वार्थी' से बड़ा निन्दात्मक विशेषण दूसरा कोई नहीं होता। वास्तव में अधिकांश दुर्गुणों का मूल स्वार्थ ही होता है। रिश्वत, भाई–भतीजावाद, काममूलक अमर्यादा ये सब अन्य दुर्गुणों के अतिरिक्त स्वार्थमूलक भी हैं। इसके अतिरिक्त इनमें आत्मा की व्यापक भ्रष्टता भी होती है।

तो क्या आत्मा, या आत्म ही कहें, अपने–आप में शुद्ध है और उसमें दुर्गुण उस पर आरोप होते हैं? 'आत्मा की भ्रष्टता' पद में यह विचार निहित भी है, क्योंकि 'आत्मा की भ्रष्टता' का अर्थ है 'आत्मा की स्वरूप से च्युति', 'आत्मा को स्वरूप खोना।' किन्तु यदि मनुष्य प्राणी–विकास में सब से ऊपर है और केवल उसी में आत्म–बोध है, तो अन्य जीवों को पूर्ण रूप से भ्रष्ट ही कहा जा सकता है। किन्तु ऐसा कहा नहीं जाता और ठीक ही नहीं कहा जाता। क्योंकि जहाँ आत्मा है ही नहीं वहाँ भ्रष्टता का कोई अर्थ नहीं हो सकता। आत्मा केवल मनुष्य में ही है, इसलिए उसी में आत्मा की भ्रष्टता–अभ्रष्टता और उच्चता–नीचता का प्रसंग हो सकता है। किन्तु आत्मा की उच्चता और भ्रष्टता के लक्षण क्या हैं और वे कैसे निश्चित किये जा सकते हैं?

जैसा कि हमने पीछे कहा, सत्य–असत्य, उचित–अनुचित का बोध केवल मनुष्य में ही है और इस बोध को मनुष्यता का लक्षण भी कहा जा सकता है। मनुष्यता का दूसरा और आधारभूत लक्षण आत्म–चेतना है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'आत्म–चेतना' का अर्थ है विषय से भिन्न विषयी के रूप में अपना बोध। इस चेतना का विषय विषयी स्वयं भी होता है। 'यह मैं हूँ', 'मैं लिख रहा हूँ' इन वाक्यों में विषयी ही अपना विषय है। किन्तु इस विषयीभूत विषय का एक और विषयी भी हो सकता है, होता ही है, पर पुनः अपने विषयी के साथ। इस प्रकार आत्म चेतना की विषयिता अनन्त अन्तर्मुखीनता वाली होती है। यह अन्तर्मुखीनता ही आत्मा का लक्षण कही जा सकती है। किन्तु इसका स्वरूप क्या है? इस स्वरूप का लक्षण क्या है? इसका लक्षण मेरे विचार में उचित–अनुचित में विवेक का विवेकी होना ही कहा जा सकता है, इस बोध के अतिरिक्त कि यह आत्म विषय भी होता है। किन्तु यह विषयभूत विषयी आत्म आत्मपूर्वक ही होता है।

अब, यह विषयी–आत्म (विषयभूत आत्म) न तो सामने खड़े पेड़ जैसा या किसी प्राणी जैसा होता है और न पत्थर जैसा। यह सामने खड़े मेरे जैसा ही होता है – विषयीमूलक विषय। इसी से यह विषय बैल आदि से भिन्न सत् और असत् से युक्त होता है। दूसरे शब्दों में, यह मेरे समान ही आत्माधिष्ठित होता है।

अब, इस आत्मा का स्वरूप क्या है? हमारे यहाँ वेदान्त और सांख्य में आत्मा को निर्गुण कहा गया है। किन्तु यहाँ हम जिस आत्म की बात कर रहे हैं वह प्रकृति–संवलित आत्म है। यह आत्म प्रकृति–परायण और आत्म–परायण दोनों हो सकता है। प्रकृति–परायण आत्म प्रकृति–परायणता की अतिशयता में पाशव होता है और आत्म–परायणता की अतिशयता में महत्। इसका अर्थ है कि आत्मा के निज स्वरूप को शुद्ध और श्रेष्ठ माना गया है। 'आत्मानं विद्धि' उपदेश इसी मान्यता के कारण है। अन्य प्राणियों से भिन्न मनुष्य में नैतिक बोध का कारण यह आत्म–बोध होना ही है, जिस बोध से अन्य जीव नितान्त रहित होते हैं। यों पशुओं में भी स्वभाव–भेद होता है। गाय को हम भली कहते हैं, अच्छे व्यक्ति को 'गाय' कहते हैं। किन्तु यह 'गोत्व' गुण गाय में नैतिक गुण नहीं है, यह उसमें प्राकृतिक गुण है। इसके विपरीत मनुष्य में सहज गुण भी उत्कृष्ट–निकृष्ट कहे जाते हैं, क्योंकि वे गुण उसमें प्रायः ही अर्जित होते हैं। उसमें सहज हो गए गुण या तो शिक्षा से आये होते हैं या अपने संकल्प से। शिक्षा समाज से मिलती है और समाज एक नीतिमूलक समूह है। मानव–समूह की यह नीतिमूलकता है। यही उसे 'समूह' से भिन्न 'समाज' बनाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार समाज, और उसका अंग व्यक्ति, ये दोनों नैतिक अस्तित्त्व हैं, इसलिए उनके आचरण सत् और उचित तथा भ्रष्ट और अनुचित कहे जाते हैं। इन विशेषणों के लक्षण क्या हैं? इनका एक लक्षण तो सामाजिक प्रथामूलक होता है। उदाहरणतः हिन्दू–समाज में पीछे कुछ कालों में बाल–विवाह का पर्याप्त प्रचलन था। यह सामाजिक भ्रष्टाचार कहा जा सकता है, वैयक्तिक भ्रष्टाचार नहीं। किन्तु पर–स्त्री या पर–पुरुष–गमन, असत्य–भाषण आदि वैयक्तिक भ्रष्टाचार हैं। ये भ्रष्टाचार इसलिए ही नहीं हैं कि ये सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध हैं, ये इसलिए भी भ्रष्टाचार हैं क्योंकि ये ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो मनुष्य को परोन्मुख रखती हैं, उसे अपने से दूर रखती हैं। इस प्रकार भ्रष्टाचार आत्मा के स्वरूप से विपरीत होने को कहा जा सकता है और इसी अर्थ में लोभ, मोह, क्रोध और अहंकार आदि भ्रष्टाचरण या स्वभाव–भ्रष्टताएँ हैं।

पी–51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, जयपुर - 302015

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष, अवधारण और धार्मिक प्रतीकात्मकता

अशोक वोहरा

महान भौतिकशास्त्री एडविन श्रौद्रिंगर का यह मत था कि साधारणतः विज्ञान में, और विशेषतः भौतिकी में, दिए गए सिद्धान्तों का उद्‌गम और उनका विकास इन्द्रियानुभूति और प्रत्यक्ष पर आधारित होता है। यद्यपि इन्द्रियानुभूतियाँ, प्रत्यक्ष, परीक्षण एवं निरीक्षण वैज्ञानिक खोज के आधार होते हैं तथापि वैज्ञानिक उनके स्वरूप का अन्वीक्षण नहीं करते और उन्हें अपने अध्ययन का विषय नहीं मानते। वे इन आधारभूत तत्त्वों के यांत्रिक पहलुओं को ही अपने अध्ययन का केन्द्रीय विषय मानते हैं। वैज्ञानिकों के द्वारा इन आधारभूत विषयों को अपने अध्ययन का केन्द्रबिन्दु न मानने से, पर उन्हें अपनी गवेषणा का प्रस्थानबिन्दु और स्वयंसिद्ध सिद्धान्त स्वीकार करने से, हमें यह पता चलता है कि वैज्ञानिकों की धारणा के अनुसार ये गोचर–तत्त्व उनकी पहुँच से परे हैं। दूसरी ओर पश्चिमी दर्शन की सभी प्रणालियाँ, चाहे वे वस्तुवाद या प्रत्ययवाद हों या फिर उनका संबंध भौतिकवाद से हो, प्रत्यक्ष को ज्ञान का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत मानती हैं। भारतीय दर्शन की सभी शाखाएँ चाहे वे नास्तिक हों या आस्तिक, सभी ने प्रत्यक्ष ज्ञान को मूर्धन्यतम ज्ञान माना है।

सभी दार्शनिक प्रत्यक्ष का गहन अध्ययन करते हैं। वे इन्द्रियानुभूतियों और इन्द्रिय प्रदत्तों से प्रत्यक्ष के संबंध की विवेचना करते हैं। दर्शन में प्रत्यक्ष की महत्ता के बारे में हेनरी बर्गसाँ का कहना है कि "प्रत्यक्ष दिक् का हूबहू वैसा ही ज्ञापक है जैसे क्रिया काल की ज्ञापक होती है।"[1] बी. के. मतिलाल के अनुसार भारतीय दर्शन की दो विरोधी दार्शनिक–पद्धतियों, नैयायिक वस्तुवाद एवं बौद्ध विज्ञानवाद– में प्रत्यक्ष का स्वरूप, भले ही पूर्णतः भिन्न है फिर भी दोनों दर्शन प्रत्यक्ष को ज्ञान का परम स्रोत मानते हैं। मतिलाल के विचार में नैयायिकों की यह मान्यता है कि "प्रत्यक्ष अथवा कुछ देखना ज्ञान प्राप्त करने का अत्यधिक अपरोक्ष साधन है। ऐसी कोई अन्य प्रक्रिया नहीं है जो प्रत्यक्ष से अधिक निश्चयात्मक और संशयहीन हो। वस्तु की जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नितान्त निजता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रक्रिया से उपलब्ध नहीं होती। उस तत्त्व को अनुमान से भी निगमित नहीं किया जा सकता।"[2] दूसरी ओर बौद्ध सम्मत संवेदन–तंत्र के अनुसार इन्द्रियानुभूतियाँ और प्रत्यक्ष "पूर्णतः आसन्न हैं। वे संशयविहीन और त्रुटिरहित होते हैं।"[3] नैयायिकों की यह मान्यता है कि प्रत्यक्ष से प्राप्त होने वाला ज्ञान "यद्यपि सदैव अभिव्यक्त नहीं किया जाता, किन्तु वह अभिव्यक्त किया जा सकता है।"[4] दूसरी ओर बौद्ध दार्शनिकों की यह मान्यता है कि विशुद्ध प्रत्यक्ष पर आधारित ज्ञान "अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि वह विकल्पों से पूर्णतः स्वतंत्र होता है। अभिव्यक्ति विकल्पों द्वारा ही की जा सकती है।"[5] ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष अपरिहार्य है, इसलिए प्रत्यक्ष के स्वभाव को जानने के लिए "प्रत्यक्ष का उद्गम कैसे होता है और इसके साथ–साथ हमें यह जानना भी आवश्यक है कि उसकी सीमा कैसे निर्धारित होती है? क्योंकि प्रत्यक्ष तो संपूर्ण विषय का होता है किन्तु वह हमारी रुचि के विषय तक ही सीमित भी हो जाता है।"[6]

I

विज्ञान की संबंधित शाखाएँ प्रत्यक्ष की प्रक्रिया की व्याख्या करती हैं। भौतिक वस्तुओं से हमारी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं तक हम किस प्रकार 'क्वालिया' अथवा 'रॉ फील्स' का अनुभव करते हैं, विज्ञान इसका विवरण देता है। वैज्ञानिक प्रत्येक जीव के लिए प्रत्यक्ष की प्रक्रिया की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्मता से करते हैं। उदाहरणार्थ, भौतिकी और ऐन्द्रिय–शरीरक्रिया विज्ञान द्वारा प्रदत्त आधार–सामग्री से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दृश्यमान और अनुभूयमान जगत् भौतिकी द्वारा वर्णित और इन्द्रियों द्वारा अधिगृहीत कुछ चयनित घटनाओं और उनकी प्राणशक्ति का बाह्य प्रारूप मात्र ही है। वैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि दिक् इन्द्रियगम्य नहीं है फिर हमारे शरीर में भी अनेक ऐसी प्राणशक्तियाँ व्याप्त होती हैं जिन्हें हमारी आँखें (और अन्य इन्द्रियाँ) पकड़ ही नहीं पाती हैं। ऐसी अनेक ध्वनियाँ होती हैं जिन्हें पशु एवं कीड़े–मकोड़े तो सुन पाते हैं परन्तु जो हमारे श्रवणेन्द्रिय की पहुँच से परे हैं। अनेक पशुओं की तुलना में हमारी घ्राणेन्द्रियाँ व रसनेन्द्रियाँ कहीं कम विकसित हैं। उनसे हमें हमारे खाने–पीने की वस्तुओं के रासायनिक गुणों के बारे में कुछ भी पता नहीं चलता। हमारी इन्द्रिय–प्रणाली इतनी विकसित नहीं है कि हमें मानव–जीवन को प्रभावित करने वाली और दिक्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और काल में घटित होने वाली घटनाओं के परिमाण, उनकी दूरी और उनकी कालावधि का सही ज्ञान हो सके। इन घटनाओं को पूर्ण रूप से जानने के लिए, और अपंनी इन्द्रियों की इस कमी को पूरा करने के लिए हमें दूरबीन, खुर्दबीन, एटमी–घड़ी इत्यादि का प्रयोग करना पड़ता है।

द्रष्टव्य है कि परवर्ती बौद्ध–दर्शन प्रत्यक्ष की प्रक्रिया को अपने पंच–स्कंध–सिद्धान्त द्वारा व्याख्यायित करता है। पंच–स्कंध–सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष की पाँच कड़ियों की माला में प्रथम कड़ी है इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ का सन्निपात। इस सन्निपात के परिणाम–स्वरूप तत्काल, इससे पहले कि हम उसे 'इस' या 'उस' रूप में पहचान सकें, हममें दुःख–सुख अथवा तटस्थ–भावना उत्पन्न होती है। इस परिणाम को पंच–स्कंध–सिद्धान्त की दूसरी कड़ी कहा जा सकता है। तीसरी कड़ी को 'संज्ञा' कहा जाता है। इसमें हम अपने अनुभव को 'इस', या 'उस' प्रकार का कहते हैं। स्वभावतः इस स्तर पर भाषा अपनी भूमिका आरंभ कर देती है, क्योंकि विकल्पात्मक पहचान और विशिष्ट इकाई में गहरा संबंध होता है। इस संबंध से हमें इन्द्रिय द्वारा प्राप्त संवेदना और शब्द से उसके संबंध का पता चलता है। हम कह सकते हैं कि शब्द संवेदन का नाम होता है। इस माला की तीसरी कड़ी 'संस्कार' कहलाई जाने वाली चौथी कड़ी से जुड़ी होती है। इस स्थिति में हम प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत विषय के प्रति सजग हो जाते हैं और उसके बारे में अपनी आकर्षण अथवा विकर्षण की प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं। हम प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त तात्कालिक अनुभव की तुलना इससे पूर्व के अनुभवों की स्मृति से करते हैं और उस पर अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करते हैं। वैज्ञानिक प्रत्यक्षानुभव की चेतना इस माला की पाँचवीं कड़ी है। उपरोक्त सभी स्थितियों में चेतना उपस्थित रहती है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया की आधुनिक 'वैज्ञानिक' व्याख्या, बौद्धों की उपरोक्त व्याख्या के अनुरूप ही है।

पश्चिमी जगत् में प्लेटो ऐसे प्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने ज्ञान के स्रोत के रूप में प्रत्यक्ष की वैधता और उसकी विश्वसनीयता पर प्रश्न उठाए। अपने संवाद 'फीडो', पुस्तक 656 में उन्होंने यह प्रश्न उठाया : "क्या मनुष्य की दृष्टि और श्रवण में कोई निश्चयात्मकता है या फिर कवियों द्वारा हमें बारम्बार सुनाई जाने वाली इस बात में कोई सच्चाई है कि न तो हमें कोई विषय यथार्थतः दिखाई देता है, न ही सुनाई देता है? देखने और सुनने की इन्द्रियों की विश्वसनीयता की अन्य इन्द्रियों से तुलना करते हुए प्लेटो आगे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहते हैं कि, ''यदि सुनने और देखने की इन्द्रियाँ सुस्पष्ट एवं निश्चयात्मक नहीं हैं तो अन्य इन्द्रियों की सुस्पष्टता और निश्चयात्मकता तो कहीं ठहर ही नहीं पाएगी; क्योंकि वे तो चक्षुओं और कानों की तुलना में कहीं अधिक निम्नतर हैं। भारतीय दर्शन में भी प्रत्यक्ष का वर्णन यह कह कर दिया गया है कि प्रत्यक्ष, ''निर्विकार इन्द्रियों का निर्विकार विषयों के साथ सन्निकर्ष है।''[7] अतः प्रत्यक्ष के दर्शन में मुख्य प्रश्न यह है कि वह क्या है जो प्रत्यक्ष को यथातथ्य बनाता है? संशयातीत प्रत्यक्ष की क्या शर्तें हैं? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए विलफर्ड सेलर्स अपने लेख ''फिलॉसॉफी एण्ड साइंटिफिक इमेज ऑफ मैन'' में 'वैज्ञानिक प्ररूप' और 'अभिव्यक्त प्ररूप' में भेद करते हैं। मैं उन्हें 'वैज्ञानिक प्रत्यक्ष' और 'अभिव्यक्त प्रत्यक्ष' का नाम देना चाहूँगा। 'प्ररूप' (इमेज) पद बर्गसां की याद दिलाता है। बर्गसाँ कहते हैं, ''मेरे विचार में पदार्थ प्ररूपों की समष्टि है।'' और 'प्ररूप' से हमारा मंतव्य है एक ऐसा अस्तित्व जो प्रत्ययवादियों द्वारा प्रतिरूपण कहे जाने वाले विषय से कुछ अधिक, लेकिन वस्तुवादियों द्वारा वस्तु कहलाए जाने वाले विषय से कुछ कम है। इसलिए ''प्ररूप वस्तु और प्रतिरूपण के मध्य स्थित सत्ता का नाम है।''[8] सेलर्स प्ररूप के अपने प्रयोग की अस्पष्टता से परिचित हैं। अपने प्रयोग को स्पष्ट करने के लिए वे कहते हैं, ''प्रथमतः इन्हें प्ररूप कहने से मेरा मंतव्य यह नहीं है कि मैं उनमें से किसी एक को, या फिर दोनों को 'वास्तविक' नहीं कहना चाहता। हुसरेल की पदावली में मैं उनकी 'ब्रैकेटिंग' कर रहा हूँ, जगत् को अनुभव करने के ढंगों को मैं दार्शनिक विवेचना और मूल्याँकन के विषयों में परिवर्तित कर रहा हूँ। 'प्ररूप' पद का अस्पष्ट होना लाभप्रद है। एक ओर तो यह पद किसी विषयवस्तु, उदाहरणार्थ एक पेड़, की तुलना समतल सतह पर पड़ने वाले उसके प्रक्षेपण से करता है और दूसरी ओर उस विषयवस्तु की दीवार पर पड़ने वाली प्रतिछाया से करता है। इस अर्थ में, विषय–वस्तु का प्ररूप भी विषय–वस्तु जितना ही सत्तावान होता है, यद्यपि प्ररूप विषय–वस्तु पर अवलंबित होता है।''[9]

सेलर के अनुसार वैज्ञानिक प्ररूप में सैद्धान्तिक विज्ञान की प्राक्कल्पनाएँ निहित होती हैं। उदाहरणार्थ, वैज्ञानिक प्ररूप में अणु, परमाणु, और माईक्रोफिज़िक्स का प्रयोग किया जाता है। वह प्रत्यक्ष का 'वस्तुपरक' विवरण होता है। वह प्राणियों की चाक्षुष–प्रणाली का विश्लेषण करता है। वैज्ञानिक प्ररूप पूर्णतः प्राक्कल्पनाओं का प्रयोग करता है, इसलिए वहाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'जगत् में मनुष्य' (मैन इन दि वर्ल्ड) की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। दूसरी ओर 'अभिव्यक्त प्ररूप' जगत् में मनुष्य की सहज संकल्पना को अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्त प्ररूप ही दार्शनिक विवेचना का सहज आरंभिक बिन्दु है। अभिव्यक्त प्ररूप में प्रत्यक्ष का स्थान वैज्ञानिक प्ररूप से कहीं अधिक होता है।

गेराल्ड ऐडल्मैन[10] अपनी पुस्तक 'सेकंड नेचर : ब्रेन साईस एण्ड हयूमन नेचर' में सेलर द्वारा प्रतिपादित प्ररूप के दोनों प्रकारों का समर्थन करते हुए कहते हैं कि अभिव्यक्त प्ररूप में सहसंबंधी और आगमनात्मक विज्ञान दोनों ही निहित होते हैं। अतः दोनों प्ररूपों का आधार वैज्ञानिक ज्ञान ही होता है। ऐडल्मैन की तरह ही इस लेख में इन प्ररूपों का मेरा प्रयोग भी मध्यमार्गी है। अपने दैनंदिन अनुभवों और निष्कर्षों की तुलना वैज्ञानिक क्रियाकलापों द्वारा प्राप्त निष्कर्षों से करना ही इन प्ररूपों के प्रयोग का मेरा उद्देश्य है। वैज्ञानिक प्ररूप कैसे बनता है यह अभी भी वैज्ञानिक गवेषणा का विषय है, और संभवतः भविष्य में भी रहेगा, किन्तु यह आशा की जाती है कि अन्य अनसुलझे वैज्ञानिक विषयों के समान, निकट भविष्य में इस प्रश्न का उत्तर भी खोज लिया जाएगा। इसे इस प्रकार कहें कि प्रत्यक्ष की वैज्ञानिक पहेली का हल खोज लिया जाएगा। किन्तु प्रमाण के रूप में अभिव्यक्त प्ररूप किस प्रकार अकाट्य होता है, यह हमेशा एक पहेली बनी रहेगी। इसका कारण प्रमाण की यह परिभाषा है, "प्रमाण, विषयों में वास्तविक संवादिता है।"[11] मतिलाल के शब्दों में "प्रमाण, प्रमा (ज्ञान) का साधन है, और प्रमा उसका साध्य है।"[12] यथा, प्रत्यक्ष के दो कारण हैं। पहला कारण प्रत्यक्ष की विषय–वस्तुएँ हैं, और दूसरा कारण हमारी इन्द्रियों से संबंधित है। प्रत्यक्ष की विषय–वस्तुओं में दोष का कारण होता है, उनका "हमसे अत्यधिक दूरी पर होना, अत्यधिक समीप होना, अत्यधिक लघु होना, उनके और हमारे बीच व्यवधान होना, उनका अपने से मिलती–जुलती प्रतीत होने वाली वस्तुओं के साथ सांकर्य होना, और अन्य वस्तुओं के समान दिखलाई देना (सादृश्य)।"[13] इन्द्रियाँ उपकरणों के समान होती हैं और वे अपने द्वारा प्राप्त संकेतों और डाटा (आधार–सामग्री) को मन के पास भेज देतीं हैं। मन 'इन सभी इन्द्रियों का स्वामी है और स्मृति का कारण है।' इसके साथ–साथ प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय, उदाहरणार्थ नाक (घ्राण), जिह्वा (स्वाद), आँख (देखना), त्वचा (स्पर्श) के स्तर पर भी बीमारियों और रोगों के कारण उनके द्वारा प्राप्त संकेतों और डाटा में कुछ कमी रह जाती है। इसी प्रकार मन, जिसे यह संकेत भेजे जाते हैं, के स्तर पर भी हर्ष, वेदना, ईर्ष्या, राग–द्वेष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के कारण अनेक प्रकार के दोष आ जाते हैं। जैन दर्शन के अनुसार हमारा ज्ञान अपरोक्ष हो ही नहीं सकता, हमारे सारे प्रत्यक्ष परोक्ष ही होते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष में इन्द्रियों और मन/चित्त की भी भूमिका होती है। इसलिए जैन दर्शन में सापेक्षिक अपरोक्ष प्रत्यक्ष की संकल्पना की जाती है। जैन एवं अन्य भारतीय दार्शनिकों की यह भी यह मान्यता है कि साधारणतः हमें प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान क्रमवार होता है। वह एक साथ नहीं होता। इसलिए परोक्ष ज्ञान समग्र नहीं हो सकता। केवल अर्हतों, तीर्थंकरों, केवलियों, योगियों, सिद्धपुरुषों, बोधिसत्त्वों को ही अपरोक्ष ज्ञान होता है; उनका ज्ञान समग्र होता है।

यह ध्यान देने का विषय है कि सभी इन्द्रियाँ समान हैं– कोई बड़ी अथवा छोटी नहीं है। सभी बराबर हैं। हमें किस इन्द्रिय पर अधिक निर्भर रहना है और किस पर तुलनात्मक रूप में अधिक विश्वास करना है इसका निर्णय दिये गए संदर्भ में अपने प्रयोजन द्वारा हमें करना होता है। एम्पेडोक्लेस[14] इसे यह कहकर स्पष्ट करते हैं: "प्रत्येक विधि (अनुभव) द्वारा यह देखो कि प्रत्येक वस्तु किस प्रकार स्पष्ट होती है, परंतु किसी भी इन्द्रिय द्वारा प्राप्त अनुभव को किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा प्राप्य अनुभव से अधिक विश्वसनीय, अधिक उत्कृष्ट न मानो। उदाहरणार्थ, दृश्य को श्रवण से अधिक विश्वसनीय, अधिक उत्कृष्ट श्रेणी का न मानो, न ही स्पष्ट सुनाई देने वाले विषयों को जिह्वा से मिलने वाले स्वाद से कहीं अधिक या अन्य ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्य प्रत्यक्ष को स्वतः प्रामाणिक मानो, अपितु किसी भी ज्ञानेन्द्रिय से प्राप्य प्रत्यक्ष को यदि वह विषय को स्पष्ट करने में सहायक है तो उसे ही उत्कृष्ट एवं प्रामाणिक मानो।" ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान की उत्कृष्टता के बारे में दी गयी अपनी युक्ति में ऐपिक्युरस[15] कहते हैं, "बुद्धिमान व्यक्ति खोखले शब्दों से विचलित नहीं होते, वे तो अनुभव पर ही आश्रित होते है।" पुनः तर्क की श्रेष्ठता की भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं, "तर्क इन्द्रियानुभवों को नकार नहीं सकता, क्योंकि तर्क की वैधता इन्द्रियानुभव पर आधारित होती है। कोई एक इन्द्रियानुभव किसी अन्य इन्द्रियानुभव को नकार नहीं सकता, क्योंकि सभी इन्द्रियानुभव बराबर (अतः वास्तविक) होते हैं।"[16] दूसरी ओर परमानाईडिस[17] इन्द्रियानुभव में त्रुटि होने की संभावना के कारण केवल तर्क को ही ज्ञान का स्रोत मानते हैं। वह कहते हैं कि व्यक्तियों को "अपने विभिन्न साधारण अनुभवों के कारण दृष्टि–विहीन आँखों, श्रवणरहित कानों और स्वाद–विहीन जिह्वा को अपने विचारों पर हावी नहीं होने देना चाहिए; अपितु मेरे द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली युक्ति को केवल तर्क की कसौटी पर कसा जाना चाहिए।"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भ्रम अथवा मतिभ्रम की संभावना प्रत्यक्ष द्वारा निगमित ज्ञान को संदिग्ध बना देती है। भ्रम एवं मतिभ्रम के निम्नलिखित द्वयर्थक आकृतियों के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है। बत्तख/खरगोश, बूढ़ी/जवान स्त्री, नैक्कर क्यूब, कैनिज्सा आकार जिसमें त्रिभुज के केवल कोण दिखाए जाते हैं परंतु ऐसा प्रतीत होता है मानो ये आकृति दो परस्परव्यापी स्पष्ट लाइनों वाली त्रिभुजों की हों, कलश/मुखाकृति, मद्यप/दो चूमती हुई आकृतियाँ, अमरीकी आदिवासी/एस्किमो, चन्द्रमा की सतह पर चर्खा काटती हुई बुढ़िया महिला/खरगोश, विभिन्न रंगों एवं आकारों में उकरती त्रि–आयामी आकृति, द्वि–आकृतियों और रंगों वाला हेलोग्राम, म्यूलर–लेयर भ्रम इत्यादि। इन सभी उदाहरणों में, प्रारंभ में तो हमें आकृति का केवल एक ही पक्ष दिखाई देता है, किन्तु शीघ्र ही अनुभव, व्याख्या और प्रशिक्षण द्वारा हमें उसका दूसरा पक्ष भी दिखाई देने लगता है और अभ्यास के साथ हममें उस आकृति के दोनों पक्षों को समझने की क्षमता आ जाती है। इसके साथ ही इन चित्रों, आकारों की हमारी समझ और उन्हें देखने पर होने वाली हमारी प्रतिक्रिया में भी परिवर्तन आ जाता है। हम एक पक्ष से दूसरे पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करना सीख जाते हैं। अतः, हम कह सकते हैं कि ये सभी अस्थायी भ्रम होते हैं क्योंकि प्रशिक्षण द्वारा हम इन पर विजय पा सकते हैं।

अस्थायी भ्रान्ति के उपरोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ स्थायी भ्रम भी होते हैं। यद्यपि विज्ञान इन भ्रान्तियों का अपने सिद्धान्तों द्वारा उन्मूलन कर चुका है तो भी हम उनसे दिग्भ्रमित होते रहते हैं। वैज्ञानिक व्याख्या के बावजूद वे हमारी बुद्धि को स्थायी रूप से भ्रमित करते रहते हैं। ऐसी स्थायी भ्रान्तियों के उदाहरण हैं सूर्य का पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाना, रफ्तार से दौड़ती हुई रेलगाड़ी से बाहर लगे खंभों और भूदृश्यों का पीछे चलते हुए दिखना; चलती हुई नाव पर सवार व्यक्ति को किनारे पर लगे पेड़ों का पीछे जाते होने का आभास; चलचित्र में नायक–नायिकाओं और अन्य पात्रों के हिलते–डुलते जीवन्त चित्रों का आभास इत्यादि। उपरोक्त सभी उदाहरणों में हम यह जानते हैं कि हमारा प्रत्यक्ष अनुभव त्रुटिपूर्ण है। हम जानते हैं कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता, अपितु वह तो स्थिर है और पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है; हम जानते हैं कि रेलगाड़ी के बाहर, और नदी–किनारे स्थित पेड़–पौधे स्थिर हैं, हम जानते हैं कि वास्तव में चलचित्र में हम स्थिर चित्रों को एक विशिष्ट रफ्तार और कतार से प्रक्षेपित होते देखते हैं, किन्तु फिर भी हम उन्हें उसी प्रकार देखते हैं जैसे इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जानकारी से पहले हम उन्हें देखते थे। हम कितना भी प्रयास करें इन भ्रान्तियों से बच नहीं सकते। हमारी इन्द्रियों का गठन ही इस प्रकार हुआ है कि इन भ्रान्तियों से बचना हमारे लिए असंभव है। इन भ्रान्तियों का आधार हमारी इन्द्रियों की प्रकृति है। यह जानते हुए भी कि हम भ्रमित हो रहे हैं, हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव में कोई अदल–बदल नहीं कर पाते।

II

अब यदि प्रत्यक्ष की वैज्ञानिक और दार्शनिक व्याख्या की उपर्युक्त पृष्ठभूमि में धार्मिक विश्वासों में प्रत्यक्ष की भूमिका पर विचार करें तो कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष–ज्ञान में धार्मिक मतों, चिह्नों और प्रतीकों से संबंधित सैद्धान्तिकता का जो प्रत्यक्ष होता है वह साधारण प्रत्यक्ष–ज्ञान से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। दृष्टांत के रूप में मैं बनारस में बने, और औरंगजेब द्वारा ध्वस्त किये जाने के बाद फिर कभी न बनाए जाने वाले, बिन्दुमाधव मंदिर में बैपिस्ते टवेर्नियर द्वारा सन् 1668 के आसपास दिये गए हिन्दू कर्मकाण्ड के विवरण से करना चाहूँगा। वे अपने विवरण में कहते हैं: "मंदिर के द्वार खुले और परदा उठाया गया। जैसे ही उपस्थित लोगों ने मूर्तियों के दर्शन किए, उन सबने अपने सिर पर हाथ रखकर तीन बार दण्डवत्' प्रणाम किया। फिर उठकर उन्होंने मूर्तियों पर फूलों की वर्षा की और पुजारी को फूलों की मालाएँ दीं। पूजारी ने मालाओं को मूर्तियों से छुआ कर उन्हें देने वाले को वापिस कर दिया। एक वृद्ध पुजारी ने अपने हाथ में नौ जलती हुई बत्तियों वाला एक दीपक दिया लिया हुआ था और वह बार–बार उस दिये को मूर्तियों की ओर ले जाता था। ऐसा करते समय वह जलती हुई बत्तियों पर कोई सुगंधित द्रव्य फेंकता रहता था।"[18]

टवेर्नियर का यह विवरण हिन्दू कर्मकाण्ड में अत्यधिक साधारण आरती या पूजा का है.। यह मूल्य–निरपेक्ष भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इसमें न तो सांस्कृतिक व्यंजना है, न ही कोई मूल्यात्मक वर्णन है। मूल्य–निरपेक्षता के कारण इसमें न तो तथ्यों को समझने का प्रयास है, और न ही उनका तुलनात्मक अध्ययन है। यह तो विशेष क्रियाकलाप का सपाट विवरण मात्र है।

द्रष्टव्य है कि जब कभी हिन्दू देवी–देवताओं के वर्णन का समय आता है तो आरंभ से लेकर आज तक के पश्चिमी यात्री उन्हें उनके प्रदर्शित रूप के कारण प्रायः अरुचिपूर्ण, यहाँ तक कि घिनौना पाते हैं। सन् 1584 में बनारस आने वाले यात्री रैल्फ फिच ने अपने यात्रावृत्तान्त में कहा, "उनके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देवी–देवताओं की प्रतिमाएँ अनिष्टकारी एवं अचल होती हैं। वे पत्थर और काष्ठ से बनाई जाती हैं। उनमें से कुछ सिंह के समान, कुछ चीते के समान, कुछ वानर के समान होती हैं। कुछ पुरुषों, नारियों और मोरों के समान होती हैं और कुछ के शैतान के समान चार हाथ और चार भुजाएँ वाली होती हैं।" हिन्दुओं की मुख्य मूर्तियों का विवरण देते हुए वे लिखते हैं, "उनकी मुख्य मूर्तियाँ काली और अनिष्टकारी होती हैं। उनका मुँह विकराल होता है, उनके कानों पर सोना मढ़ा होता है और वे रत्नों और मणियों से जड़ित आभूषणों से भरे होते हैं, उनके दाँत और आँखें सोने, चाँदी या काँच के बने होते हैं, उनके हाथों में कोई न कोई वस्तु होती है।।"[19]

अनेक वर्षों बाद भी हिन्दू प्रतिमाओं की इस समझ में कोई बदलाव नहीं आया। सन् 1800 में नॉर्मन मैक्लिओड ने हिन्दु प्रतिमाओं का वर्णन 'भद्दे दिखने वाले दैत्याकार भगवान्' के रूप में किया।[20] एम ए शेरिंग ने हिन्दुओं के बारे में कहा कि "वे भद्दी दैत्याकार प्रतिमाओं, लिंग और अन्य अशोभनीय आकृतियों और चित्रों, और अनेकानेक भौंडे, बेडौल और घिनौने विषयों की पूजा करते हैं।"[21] मार्क ट्वेन बनारस शहर में हिन्दू प्रतिमाओं की उपस्थिति का मजाक उड़ाते हुए कहते हैं कि यहाँ प्रतिमाओं का बहुत बड़ा जमघट है; शहर घिनौनी और घटिया प्रतिमाओं का संग्रहालय है; ये प्रतिमाएँ स्वप्न में आकर डराती हैं, वे दुःस्वप्न हैं।"[22] पादरी जेम्स कैनेडी को बनारस के सभी मंदिर घटिया एवं अरुचिकर लगे। उनके अनुसार "सब कुछ विकराल, फूहड़, अप्राकृतिक, बीभत्स, वास्तविकता और सुरुचि से दूर हैं। ये सब मनुष्य के स्वभाव और चरित्र को पवित्र करने और उन्हें ऊँचा उठाने के बजाय उन्हें नीचता की गहराई की ओर ले जाते हैं।"[23]

उनकी यह ऊटपटांग समझ केवल हिन्दू प्रतिमाओं तक ही सीमित नहीं है, वह उनकी पूजन–विधि का भी मजाक उड़ाते हैं। पादरी कैनेडी हिन्दू पूजनविधि पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं, कि यहाँ का "पूरा का पूरा दृश्य घृणास्पद है। मंदिर में चारों ओर भक्तों द्वारा लाये गये फूल बिखरे होते हैं, गले–सड़े फूलों और फलों की दुगंध से वातावरण भरा होता है, और उसका फर्श उनके द्वारा मूर्ति पर चढ़ाए गए जल से गीला होकर फिसलने वाला हो जाता है और चारों ओर कीचड़ की भरमार होती है। चारों ओर कर्कश शोर सुनाई देता है।"[24] एमया रॉबर्ट भी हिन्दुओं की पूजनविधि को अप्रीतिकर पाती हैं। उन्होंने अपनी अरुचि को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि "पानी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की अत्यधिक उपलब्धता, चारों ओर गंदे भिखारियों और 'राम–राम' के निरंतर कर्कश उच्चारणों के कारण ढीठ पुरावेत्ताओं को छोड़कर सभी को इस भीड़ और कोलाहल भरे वातावरण से भाग जाने को मजबूर करता है।"[25] तीर्थयात्री की मनःस्थिति पर टिप्पणी करते हुए पादरी शेरिंग कहते हैं, "वहाँ आने वाले व्यक्ति को यह अविश्वसनीय झूठ कह कर प्रसन्न किया जाता है कि उसके सारे पाप धुल जाएँगे, उसे पापों से मुक्ति मिल जाएगी और उसकी आत्मा पवित्र हो जाएगी।"[26]

विदेशियों द्वारा दिये गये उपरोक्त विवरणों से हमें पता चलता है कि ये वर्णन तटस्थ विवरण से लेकर 'अविश्वसनीय झूठ', 'कपट', मूर्तिपूजक' जैसी अवमूल्यनकारी अभिव्यक्तियों का प्रयोग करते हैं। इन विदेशियों को पावन गंगाजल पवित्र न होकर, 'गतिविहीन' (निश्चल), 'बदबूदार' और 'घृणित' पानी प्रतीत हुआ। उन्हें यह भी लगा कि हिन्दू पूर्णतः पतित', 'अ–धार्मिक', 'अंधविश्वासी' और 'अविश्वसनीय' हैं।

डेविड किन्सले एक अन्य संदर्भ में अपनी पुस्तक 'तांत्रिक विज़न ऑफ द डिवाइन फेमेनि' में देवी के विभिन्न रूपों, प्रतिमाओं और उनकी अनेक पूजा–पद्धतियों के बारे में पूछते हैं कि "देवियों के उस समूह के बारे में क्या समझा जाए जिसमें एक देवी अपनी ही गर्दन काट लेती है, दूसरी अपने अपवित्र भक्तों द्वारा भेंट की गई अपवित्र वस्तुएँ स्वीकार करती है, तीसरी देवी शव पर बैठकर एक दैत्य की जीभ बाहर खींचती है; चौथी देवी श्मशान में चिता पर लेटे अपने पुरुष साथी के ऊपर चढ़कर उससे संभोग करती है; पाँचवीं देवी सिंहासन हिन्दू देवी–देवताओं के चार मुख्य देवताओं की पीठ पर रखा है; छठी देवी को श्मशान में वीर्य द्वारा पूजित होना पसंद है; सातवीं देवी की शक्ल सुअर जैसी है।"

अब मैं अपने समकालीन अन्य धर्मों के विद्वानों द्वारा हिन्दू देवी–देवताओं और मान्यताओं के बारे में उनके विचारों का विश्लेषण करता हूँ। ये विद्वान हिन्दू धर्म और उसके लोक–साहित्य का विश्लेषण प्रचलित यूरोपीय विचार–पद्धति द्वारा करते हैं। सर्वप्रथम तो पॉल कोर्टराईट द्वारा दिया गया गणेश भगवान का विवरण मन में आता है। पॉल कोर्टराईट अपनी पुस्तक गणेश द लॉर्ड ऑफ आबस्टेकलस, लार्ड ऑफ बि्गिनिन्गास (ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1985) में गणेश के मुख से अपने विश्लेषण का आरंभ करते हैं। वे कहते हैं "मनोविज्ञानी विश्लेषण की दृष्टि से हाथी के सिर का चुनाव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महत्त्वपूर्ण है। उसकी सूंड विस्थापित लिंग दर्शाती है, वह शिव के लिंग का विद्रूप रूप है। उससे कोई भय नहीं है क्योंकि वह बेहद बड़ा है, शिथिल है और ऐसे अनुपयुक्त स्थान पर है जहाँ यौन क्रिया के लिए उसका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।

. . . हाथी का सिर एक मुखावरण का कार्य भी करता है, जैसे मुखावरण का प्रयोजन छुपाना और दिखाना दोनों होता है, उसी प्रकार हाथी के सिर का कार्य भी उनकी गाथाओं में गणेश के उग्रवाद की अभिव्यक्ति और उसे छिपाना दोनों है। अतः गणेश में अपने पिता से विपरीत गुण हैं– गणेश का लिंग बहुत बड़ा और बेढब है, वह तापसी और सौम्य है, जबकि शिव का लिंग ऊर्ध्व, कामोद्दीपक और विध्वंसकारी है।

गणेश के ब्रह्मचारी होने का कारण उनके पिता और माता दोनो हैं। किन्तु ये कारण एक दूसरे के विपरीत हैं। वह "अपने व्यभिचार के लिए बदनाम" अपने पिता से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। गणेश कौटुम्बिक व्यभिचार से उत्पन्न पुत्र हैं, इसका पता कोर्टराईट के अनुसार निम्नलिखित विवरण से मिलता है : "एक बार पार्वती ने गणेश से पूछा कि वह किस प्रकार की कन्या से विवाह करना चाहते हैं। इसके उत्तर में गणेश ने कहा, 'ममी, बिलकुल आप जैसी कन्या से।' इस प्रकार से कौटुम्बिक व्यभिचार को इंगित करने वाले उत्तर को सुनकर ममी गुस्से में आ गई और उन्होंने गणेश को सदैव ब्रह्मचारी रहने का शाप दे दिया।" मैने जानबूझकर कोर्टराईट के शब्दों को यथावत् लिया है। स्पष्टतः यह बेहद बेहूदा तर्क है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में क्या यह आम बात नहीं हैं कि वयस्क विवाह योग्य पुत्र अपनी जीवनसंगिनी के रूप में अपनी माँ जैसी किसी कन्या को ही अपना आदर्श मानता है? भारतीय संस्कृति में माँ को सभी सद्‌गुणों का वाहक, उसे अनन्तः प्रेम का स्रोत, और अपना सब कुछ अपने बच्चों के लिए निछावर करने की क्षमता वाली माना जाता है। माँ के बारे में शंकराचार्य कहते हैं : कुपुत्रो जायेत् क्वचिदपि कुमाता न भवति– दुर्गुणों वाला कुपुत्र तो हो सकता है, किन्तु कुमाता जैसी कोई वस्तु नहीं होती। और हम भारतीयों को माँ भगवती पार्वती के लिए 'ममी' उद्‌बोधन कैसा लगता है! हिन्दू संस्कृति और परंपरा में पला–बढ़ा व्यक्ति चाहे जितना भी पाश्चात्य रंग में रंगा हो, उसे गणेश पर आरोपितं कौटुम्बिक व्यभिचार की इच्छा की बात से गहरी वितृष्णा ही होगी।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कोर्टराईट अपनी पुस्तक में आगे लिखते हैं कि गणेश नपुंसक हैं क्योंकि वे अपनी माता पार्वती के अन्तःपुर की रक्षा करते हैं। "गणेश, हरम की रक्षा करने वाले नपुंसकों जैसा है।" अपने निष्कर्ष के समर्थन में कोर्टराईट हिल्टबीयटल के इस कथन को उद्धृत करते हैं कि भारतीय लोक साहित्य में नपुंसक ही अन्तःपुर के विश्वसनीय रक्षक माने जाते हैं। वे समलैंगिक होते हैं और उनमें मौखिक रत्यात्मकता की भूख पायी जाती है, और उनमें नपुंसकों के सभी अवगुण होते हैं। कोर्टराईट के अनुसार गणेश को पसंद मोदक स्त्री–स्तनों के द्योतक हैं और वे गणेश द्वारा अपने भाई स्कन्द से प्रतिस्पर्धा में जीते गए आम को योनि का द्योतक मानते हैं और गणेश द्वारा खाए जा रहे आम को उनका अपनी माँ के साथ कौटुम्बिक व्यभिचार का प्रतीक समझते हैं।

विष्णुपुराण 1.9.103 में गजलक्ष्मी के उस चित्रण, जिसमें समुद्र–मंथन से उत्पन्न देवी लक्ष्मी को हाथी पवित्र नदियों के जल से नहला रहे हैं, का भी कोर्टराईट इस प्रकार विश्लेषण करते हैं: "लक्ष्मी पर पानी की फुहार स्त्रैण जननशक्ति पर पुरुष जननक्षमता की अभिव्यक्ति है।"

हिन्दू युवकों को छात्रजीवन में प्रवेश कराने वाले उपनयन के पवित्र संस्कार की व्याख्या भी कोर्टराईट विचित्र ढंग से करते हैं। उपनयन संस्कार में अध्यापक छात्र के प्रति पिता की भूमिका निभाता है। छात्र अपने वास्तविक पिता से संबंध विच्छेद किए बिना अपने गुरु को जीवन पर्यन्त अपने पिता का स्थान देता है। किन्तु ऐसे पवित्र अनुष्ठान के बारे में कोर्टराईट कहते हैं कि "यह अनुष्ठान अपने पिता के प्रति समलिंगकामुकता की भावना को प्रदर्शित करता है। अपने गुरु के प्रति अपनी भावनाओं का प्रदर्शन अवचेतन में पिता के प्रति समलिंगकामुकता की मुक्त अभिव्यक्ति है।" अनुष्ठान में प्रयुक्त दण्ड को भी उनके विश्लेषण में 'लिंग के रूप में देखा जाता है। उपनयन संस्कार से अपरिचित व्यक्ति को लिंग के रूप में दिखाई देने वाला दण्ड, अन्दरूनी (उपनयन संस्कार से परिचित) व्यक्ति के लिए आत्मानुशासन का एक पवित्र प्रतीक है। जब शिष्य दण्ड को उठाता है, तो वह विद्यार्थी जीवन के सभी मान्य कठिन नियमों के पालन का प्रण लेता है।

इसके अतिरिक्त कोर्टराईट बिन्दी को भी "रजोधर्म के स्राव की एक बूंद मानता है और मन्त्रोच्चारण में 'हा' उच्चारण को कामवासना में लिप्त स्त्री द्वारा मदनलहरी की अभिव्यक्ति मानता है।" कृपाल जेफ़री अपनी पुस्तक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कालीज़ चाईल्ड : द मिस्टीकल एण्ड इराटिक लाईफ एण्ड टीचिंगस ऑफ रामाकृष्ण, युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1998 श्री रामकृष्ण के स्वभाव को "द्वन्द्वात्मक, अनिच्छुक, कामुक" मानता है और उन्हें ऐसा समलैंगिक मानता है जो "कामुक स्त्रियों से, या वयस्क पुरूषों से संभोग से तो बचता है, किन्तु जिसे संभोग के लिए सुंदर बालक ही पसंद हैं।" यहाँ तक कि "वह बालकों के पुष्ट नितंबों को देखते ही अभिभूत हो जाते हैं और समाधि में चले जाते हैं।" इस प्रकार के विदेशी विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि "रामकृष्ण ने युवा विवेकानन्द का यौन शोषण किया।"[26]

इसी प्रकार की विवेचना दूसरे धर्मों यथा ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म और यहूदी धर्म के निर्देशों और प्रथाओं के बारे में भी की जा सकती है। इस प्रकार की सतही विवेचना को "अनैतिक, भ्रामक और गैरजिम्मेदाराना" ही कहा जा सकता है। परंपरा से अपरिचित बाहरी व्यक्ति द्वारा इस प्रकार की खोखली विवेचना से किसी भी अन्दरूनी व्यक्ति की भावनाओं को ठेस पहुँचती है। इस प्रकार की विवेचनाओं को न तो वैज्ञानिक, न ही वस्तुपरक कहा जा सकता है; क्योंकि वे एक तरफा हैं, और वे सकल सक्रिय जीवन को उसकी संपूर्णता में नहीं समझ पातीं।

उपरोक्त प्रश्नों और प्रतिक्रियाओं से पता चलता है कि विभिन्न संस्कृतियों से आने वाले साधारण यात्री या शोधकर्ता जब पहली बार हिन्दू देवी–देवताओं के चित्रों, प्रतिमाओं और पूजा–पद्धतियों को देखते हैं तो वे स्तब्ध रह जाते हैं और उनमें असमंजस की भावना आ जाती है। यद्यपि उनके इन्द्रियानुभव या जिन्हें मैं 'रा–फील्स' कहना उचित समझता हूँ, अथवा जिसे डेनियल सी. डेन्नेट 'क्वेलस' कहते हैं, हिन्दुओं के समान ही होते हैं, फिर भी वे हिन्दू धर्म और हिन्दू मान्यताओं में उनके स्थान एवं महत्त्व को नहीं समझ पाते। मंदिरों और देवी–देवताओं की प्रतिमाओं के उपरोक्त विवरणों से यह पता चलता है कि विदेशियों ने इन प्रतिमाओं और मंदिरों में क्या देखा और हिन्दुओं को उनमें क्या दिखता है, जबकि दोनों के इन्द्रियानुभव, 'रॉ–फील्स' या 'क्वेलस' हूबहू एक जैसे होते हैं। उपरोक्त विवरणों में प्रयुक्त शब्दावली और उनमें अभिव्यक्त विदेशियों की अपनी जीवन–शैली, ईसाई–जीवन–शैली को दर्शाती है। हिन्दू–पूजा–पद्धति और हिन्दू देवी–देवताओं की मूर्तियों की उनकी समझ उनके अपने इतिहास, परंपराओं, मूल्यों और संस्कृति नजरिये से प्रभावित है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसी प्रकार ईसाई–पूजा–पद्धति से अनभिज्ञ हिन्दू को बिना पूजन–सामग्री, बिना फूल–पत्तों और मालाओं, बिना पानी इत्यादि के खाली हाथ, जूते पहनकर चर्च में जाना अजीब लगता है। उसे वहाँ का बिना जय–जयकार का शांत वातावरण असह्य लग सकता है। हिन्दू को मंदिर का गीला फर्श, वहाँ बसी गंध, वहाँ की भीड़–भाड़, घंटियों की गूँज, तालियों की आवाज, जोर–जोर से मन्त्रोच्चारण या विभिन्न देवी–देवताओं के नामोच्चारण– 'गोबिन्दा!', 'हर–हर महादेव', 'जय श्रीराम', 'राधे–राधे', 'हरे कृष्ण–हरे कृष्ण', 'जय माता दी' इत्यादि भाता है क्योंकि उसके इन सबसे मंदिर पवित्र होता है और यह सब हिन्दू धार्मिक अनुभव व पूजा–पद्धति का एक अंतरंग भाग है। अरविन्द शर्मा ईसांई–पूजा–पद्धति यूखरिस्त इत्यादि पर अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में रखते हैं: "जब मुझे बताया गया कि यह (शराब) यीशु का रक्त है" और 'यह (रोटिका) उनका माँस तो मैं स्तब्ध रह गया। मुझे यह स्पष्टतः आदमखोरी लगी। आरंभ में तो मैं भयभीत हो गया।"[27] लगभग ऐसी ही बातें स्वामी दयानंद भी कहते हैं।

इसी प्रकार 18वीं सदी में हिन्दू मंदिरों में आने वाले विदेशी भी हिन्दुओं की चिंतन–विधि, उनके ब्रह्माण्ड–विज्ञान, उनकी अपनी समझ की वर्गीकरण–प्रणाली से विस्मित थे। वे यह नहीं समझ पाते थे कि कोई समझदार और पढ़ा–लिखा व्यक्ति मेरु–पर्वत को संसार का केन्द्र, और गंगाजल को अमृत कैसे मान सकता है? इसी प्रकार ईसाई परंपरा, पूजा–पद्धति और उसके आख्यानों से अनभिज्ञ व्यक्ति यीशु को संसार का केन्द्र, और उनके रक्त के रूप में मदिरा को अमृत नहीं मान सकता। दोनों पक्षों में भेद का मूल एक दूसरे के धर्म की अनभिज्ञता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि चाहे उनका मंतव्य कुछ भी रहा हो, ईसाई पादरियों ने संस्कृत भाषा का गहन ज्ञान प्राप्त किया, उन्होंने संस्कृत में उपलब्ध दार्शनिक एवं धार्मिक–ग्रन्थों को पढ़ा, उनका अनुवाद किया और हिन्दू जीवन–शैली को सीखा और उसे विदेशियों को समझ आने वाली भाषा में प्रस्तुत किया।

III

यद्यपि उपरोक्त सभी विवरण विदेशियों द्वारा दिये गये हैं, किन्तु अपरिचित देश–काल, धर्म, संस्कृति या जिसे विट्गेन्स्टाईन 'जीवनशैली' कहते हैं, से संबंधित व्यक्ति द्वारा दिये गये अन्य विवरण भी कुछ ऐसे ही होंगे। ऐसे सभी विवरण उसकी पवित्र और अपवित्र, शुद्ध एवं अशुद्ध, लौकिक एवं अलौकिक की अपनी समझ पर आधारित होंगे। इन सभी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभिव्यक्तियों का मूल सांस्कृतिक है। इनमें से किसी का भी मूलभूत अर्थ अथवा मूल्य नहीं है। मैरी डगलस के अनुसार अव्यवस्थित होने से कोई वस्तु या स्थिति 'बेकार' कहलाती है। अपने उचित स्थान से हटने पर ही कोई वस्तु 'बेकार' कहलाती है। उचित स्थान से हटना हमारी 'उचित स्थान' की अवधारणा पर आधारित है। 'पवित्रता' की समकालीन पाश्चात्य अवधारणा का मूल भी यही है। उदाहरणार्थ, विज्ञान से स्वीकृत शुद्धता की जीवाणुगत समझ, आधुनिक समाज और धर्म में व्याप्त 'शुद्धता' की समझ से नितान्त भिन्न है। धार्मिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति और ईश्वर में तादात्म्य का ही सर्वाधिक महत्त्व होता है। केवल ऐसा होने पर ही धार्मिक अनुभव मान्य होता है। इस प्रकार का तादात्म्य और उससे उत्पन्न होने वाली जीवन–शैली ही धार्मिक विश्वासों का आधार होती है। इन विश्वासों का आधार न तो बौद्धिक असंदिग्धता और न तार्किक योग्यता होती है, न ही यहाँ प्रमाण, तर्क अथवा किसी प्रकार के औचित्य की अपेक्षा होती है। धार्मिक विश्वास का आधार आंशिक रूप से मनोवैज्ञानिक और आंशिक रूप से नैतिक होता है। धार्मिक मान्यताएँ इस पर आधारित होती हैं कि हम स्वयं को किस प्रकार समझते हैं, किस प्रकार समाज में प्रतिबिम्बित करते हैं, अथवा किस प्रकार जीवन जीते हैं बल्कि किस प्रकार का जीवन यापन करना चाहते हैं। अपनी मान्यताओं में 'अटल विश्वास', जैसा कि विट्गेन्स्टाइन कहते हैं, युक्तियों और तर्कणाओं द्वारा प्रदर्शित नहीं होता है, न ही वह 'मान्यताओं के साधारण आधारों' द्वारा प्रदर्शित होता है। विट्गेन्स्टाइन के अनुसार "न तो आपके शब्द, न ही उन शब्दों को उच्चारित करते हुए आपके मनोभाव से कुछ फर्क पड़ता है। उन शब्दों का आपके जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव ही महत्त्वपूर्ण होता है।"[28] अपने सजग जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव और अपनी जीवन–शैली से ही हम धार्मिक मान्यताओं के प्रति अपनी कटिबद्धता को दर्शाते हैं।

कुछ लोगों को जो 'बदबूदार', 'भद्दे एवं घृणित' और 'जल्दी से भागे जाने योग्य स्थान' लगते हैं वे ही अनेक अन्य लोगों के लिए 'पावन' 'पवित्र' और 'आकर्षण के केन्द्र' होते हैं। पवित्र और अपवित्र इत्यादि पर उठने वाले प्रश्नों का उत्तर कहीं बाहर नहीं खोजा जा सकता। उनके बारे में पूर्णतः जानने के लिए हमें उन्हें जीवन में उतारना होगा, और आस्तिक लोगों के जीवन में उनके महत्त्व को जानना होगा। जैसा कि कल्चर एण्ड वैल्यू में विट्गेन्स्टाइन कहते हैं, "धर्म में गहरे उतरने पर ही मेरे धार्मिक संशयों का निराकरण हो सकता है। क्योंकि केवल धर्म ही सर्वव्यापक है; और धर्म ही अहंकार का नाश कर सकता है।"[29]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विट्गेन्स्टाइन का यह मत है कि धार्मिक मान्यताएँ बौद्धिक अटकलबाजी के विषय नहीं हैं। वे तो मन और अन्तरात्मा, प्रेम और आस्था से संबंधित हैं। उनके अनुसार धर्म के लिए वाद–विवाद आवश्यक नहीं है; क्योंकि "हम किसी ऐसे धर्म की कल्पना कर सकते हैं जिसमें किसी भी प्रकार की कोई भी सैद्धान्तिक बात न हो, और इसलिए जिसमें किसी प्रकार के वाद–विवाद की गुंजाइश ही न रहे। स्पष्टतः धर्म का सार वाद–विवाद की संभावना से कतई संबंधित नहीं है; अपितु लोगों का परस्पर वाद–विवाद करना धार्मिक कर्म का ही एक भाग है, वह कोई सिद्धान्त नहीं है।" हमारी धार्मिक मान्यताएँ हमारी कथनी से नहीं, न ही किसी सिद्धान्त से और न ही किसी ईश्वर–मीमांसीय अटकलबाजी से संस्थापित होती हैं; वे तो हमारे सजग जीवन में आचरण और हमारी वृत्तियों से निर्धारित होती हैं। इसलिये इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि धार्मिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति में "प्रयुक्त शब्द सत्य, असत्य या निरर्थक होते हैं।"[30]

इसका अर्थ यह नहीं है कि धार्मिक मान्यताओं पर विश्वास करने का कोई तर्क नहीं होता। इन मान्यताओं पर विश्वास करने का गहरा कारण होता है। किन्तु इन कारणों को हम वैज्ञानिक कारण अथवा आधार अथवा प्रमाण या फिर युक्ति नहीं कह सकते। डुरखाईम कहते हैं: "धर्म की कोई ऐसी तार्किक व्याख्या नहीं हो सकती जो मूलतः अधार्मिक हो; धर्म की अधार्मिक व्याख्या धर्म को नकारने वाली व्याख्या होती है।"[31]

'तर्क', 'प्रमाण', 'असंदिग्धता', 'निष्कर्ष' इत्यादि शब्दों का धार्मिक वाद–विवाद अथवा भाषा खेल में उनका अर्थ, वैज्ञानिक वाद–विवाद अथवा भाषा–खेल में उनके प्रयोग से भिन्न होता है। 'तर्कपूर्ण' अथवा 'अकारण' शब्दों के प्रयोग के धार्मिक एवं वैज्ञानिक भाषा–खेलों के भेद के बारे में विट्गेन्स्टाइन कहते हैं, "जहाँ हम तर्कपूर्ण होते हैं, वे तर्कपूर्ण नहीं होते– इसका अर्थ है कि वे यहाँ तर्क नहीं देते"।[32] धार्मिक आख्यान के बारे में विट्गेन्स्टाइन कहते हैं, "इस पर विश्वास करो ! किन्तु इस पर आपका विश्वास वैसा नहीं होना चाहिए जैसा विश्वास हम ऐतिहासिक रिपोर्ट पर करते हैं– इस पर आपका विश्वास अटल होना चाहिए और ऐसा तभी हो सकता है जब यह आपके जीवन पर आधारित हो। यह एक संदेश है ! इसके लिए अपने जीवन में नितान्त भिन्न स्थान बनाओ। इसमें कोई द्विविधा नहीं है।"[33] विट्गेस्न्टाइन के अनुसार ऐसे अनेक शब्द होते हैं जिनका धार्मिक–आख्यान संबंधी भाषा–खेलों में कोई स्थान नहीं होता। ऐसे कुछ शब्द हैं: 'संभवतः', 'शायद', 'निश्चित नहीं है' और 'मत'।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धार्मिक भाषा–खेलों, साधारण भाषा–खेलों और वैज्ञानिक भाषा–खेलों में प्रयुक्त मुख्य प्रत्ययों; पदों, शब्दों के प्रयोग में भेद के कारण ही आस्तिक और नास्तिक में अर्थपूर्ण वार्तालाप या संवाद संभव होता है। नास्तिक, आस्तिक के विश्वासों पर न तो विश्वास करता है न ही अविश्वास। आस्तिक व नास्तिक में सहमति, असहमति और गलतफहमी सतही होती है। वस्तुतः दोनों में मतभेद और असंगति केवल ऊपरी होती हैं, इसलिए उनके मतभेद और असंगतियाँ मिथ्या होती हैं। इसका मुख्य कारण दोनों में कोई भी साझी बात न होना है। दोनों पूर्णतः भिन्न स्तरों पर अपनी–अपनी बात कहते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली अपनी सतही समानता के कारण हमारी बुद्धि को भ्रमित कर देती है और भेद का आभास निर्मित कर देती है।

इस विमर्श से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक प्रकार के प्रत्यक्ष की हमारी समझ में कोई न कोई 'सैद्धान्तिक पूर्वमान्यता और पूर्वाग्रह' होते हैं। इसलिए हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि फोडर का यह मत कि निरपेक्ष–प्रत्यक्ष होता है, यानी, "मानवीय प्रत्यक्ष प्रतियोगी सिद्धान्तों की अपेक्षा निरपेक्ष होता है"[34] सत्य नहीं है। फॉडर के उपरोक्त मत का आधार यह गलत और आधारहीन सोच है कि यथार्थ के प्रत्यक्ष या उसकी हमारी समझ सभी के लिए अपने–अपने परिवेश से निरपेक्ष होती है, वह सभी के लिए एक समान होती है। विट्गेन्स्टाइन ने बहुत पहले इस सोच को निरस्त कर दिया था। विट्गेन्स्टाइन के तर्क को आगे बढ़ाते हुए अल्वा नॉय ने अपनी विधिकरण (इनैक्टिव) पद्धति द्वारा यह सिद्ध किया है कि हमारे विचारों और क्रिया क्षमताओं से प्रत्यक्ष का अंतरंग संबंध है। उनके अनुसार 'जो हम करते हैं (या जिसके बारे में हम जानते हैं कि उसे कैसे करना है) उससे हमें अपनी समझ का पता चलता है; उसका पता हमें इससे चलता है कि हम क्या करने के लिए तत्पर हैं। हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव का मंचन करते हैं; हम उसे कार्यान्वित करते हैं।"[35] वे तर्क देते हैं कि प्रत्यक्ष किसी प्रकार की 'मस्तिष्क की क्रिया नहीं है, न ही वह 'मस्तिष्क में होने वाली किसी प्रतिक्रिया का चित्रण है', अपितु वह तो एक दक्षतापूर्ण हुनर है। "कुछ देखना या समझना केवल चाक्षुष अनुभूति नहीं है; देखने या समझने में चाक्षुष अनुभूतियों का शारीरिक क्षमताओं व कौशलों में उचित समन्वयन होता है।"[36] भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में भिन्न–भिन्न प्रकार की क्षमताएँ और कौशल होते हैं, इसलिए एक ही समय पर एक ही वस्तु के, अथवा विभिन्न कालों में एक ही वस्तु की एक समान प्रत्यक्ष अथवा उनकी एक जैसी समझ उनमें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं होती। प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान में एकरूपता पाने की प्रत्याशा एक मृगमरीचिका है। हमें ऐडल्मैन की इस बात को मानना होगा कि "प्रत्यक्ष की प्रत्येक क्रिया रचनाकर्म होती है"[37], अथवा जैसा कि कार्ल पॉपर कहते हैं, "हमारा चाक्षुष प्रत्यक्ष एक पेंटिग की तरह होता है (एरनेस्ट ग्रोब्रिख के अनुसार 'मिलान से पहले कृति बन जाती है'), वह किसी फोटोग्राफ की तरह नहीं है।"[38] फोटोग्राफ में भी कैमरे के कोण उसमें आने वाले बिम्ब को प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि कुछ फोटोग्राफ हमें कलाकृति लगते हैं और कुछ साधारण बिम्ब। अतः किसी विषय–वस्तु का प्रत्यक्ष चाहे वह मानसिक वस्तु हो अथवा भौतिक, उस वस्तु के पुनः निर्माण की प्रक्रिया है।

दर्शनशास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *मैटर एण्ड मैमरी, ज़ोन बुक्स, न्यू यॉर्क, 1991, पृ० 32*
2. *पर्सेप्शन : एन एस्से ऑन क्लासिकल इण्डियन थ्योरिज़ ऑफ नॉलेज, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1986, पृ० 5*
3. *वही, पृ० 6*
4. *वही, पृ० 5*
5. *वही, पृ० 6*
6. *वही, पृ० 40*
7. *एस. एन. दास गुप्ता, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी, खण्ड 4, मोतीलाल बनारसीदास, 2011, पृ० 181*
8. *साइंस, पर्सेप्शन एण्ड रियलटी, रूटलेज़ एण्ड केगन पॉल, 196२ पृ० 8*
9. *वही, पृ० 8*
10. *येल युनिवर्सिटी प्रेस, 206, पृ० 164*
11. *एस. एन. दासगुप्ता, पृ० 181*
12. *पृ० 22*
13. *वही, पृ० 182*
14. *थॉमस मक्स्वली, द शेप ऑफ एन्शियन्ट थॉट : कम्पैरेटिव स्टडीज़ इन ग्रीक इण्डियन फिलॉसॉफीज़, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली पृ० 330 पर उद्धत*
15. *वही से उद्धृत, पृ० 612*
16. *वही से उद्धृत, पृ० 612*
17. *वही से उद्धृत, पृ० 330*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

18. ट्रैवल्स इन इण्डिया, खण्ड.2, पृ० 236
19. विलियम फॉस्टर, संपादक, अर्ली ट्रैवल्स इन इण्डिया, पृ० 20
20. वही पृ० 23
21. डेज़ इन नार्थ इण्डिया, पृ० 23
22. सैक्रेडि सिटी ऑफ द हिन्दूज़, पृ० 37
23. फोलोइंग द इक्वेटर, पृ० 504
24. लाईफ एण्ड वर्क इन बनारस एण्ड कुमाऊँ, पृ० 68
25. वही, पृ० 66
26. सीन्स एण्ड कैरैकटरिस्टिक्स ऑफ हिन्दोस्तान, पृ० 177
27. वही पृ० 17
28. वन रिलीजियन टू मैनी: द रिलिजियली कम्पैरेटिव रिलेक्शन ऑफ एक कम्पैरिटिवली रिलीजियस हिन्दू सुनी प्रेस, एलबानी, 2011 पृ० 63
29. कल्चर एण्ड वैल्यू, अनुवादक अशोक वोहरा, भरतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, 1998, पृ० 85
30. वही, पृ० 48
31. वीयनेर क्राईस, विट्गेन्स्टाइन एण्ड वियना सर्कल, पृ० 117
32. एमिलि डरखाईम, द फ्री प्रेस, न्यू यार्क, 1985, पृ. XViii
33. लेक्चर्स एण्ड कन्वर्शेस ऑन एथिक्स, ऐस्थेटिक्स एण्ड रलीजियन, पृ० 59
34. कल्चर एण्ड वैल्यू, पृ० 37
35. पॉल चर्चलैण्ड "पर्सेप्चुअल प्लास्टिसिटी एण्ड थियोरेटिकल न्यूट्रैल्टी : ऐ रिप्लाई टु जैरी फॉडर", फिलॉसॉफी ऑफ साइन्स, 55 (1988) पृ० 168
36. एक्शन इन पर्सेप्शन, द एम आई टी प्रेस, मैस्सेच्यूस्टेज, 2004, पृ० 1
37. उद्धृत, पृ० 100
38. कार्ल पॉपर और जॉन एक्कनस, दे सेल्फ एण्ड इटस ब्रेन, रूटलेज, लण्डन, पृ.45

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तत्त्वमीमांसा की मानवोचित विवक्षा

अभिमन्यु सिंह

कोई भी विचार शून्य में उत्पन्न नहीं होता। विचारक जिस जगत् में जीता है उस जगत् की सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक (भौतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक) इत्यादि परिस्थितियों से उसके विचार प्रभावित होते ही हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि अनुभव विचार का उद्गम स्थल है। प्रत्येक चीज का निषेध किया जा सकता है किन्तु अनुभव–मात्र का निषेध नहीं किया जा सकता। एक मिथ्या अनुभव का निषेध किसी यथार्थ अनुभव द्वारा ही सम्भव होता है। अतएव अनुभव के निषेध का आधार स्वयं आनुभविक होता है। अनुभव हमारे ज्ञान का आधार है और ज्ञान अनुभव के बारे में व्यवस्थित विचार है। यह अनुभव ही है जो हमारी समस्त वैचारिक संरचना का आधार है। किन्तु अनुभव के अनेक रूप हैं और उसके बारे में हमारा बोध (ज्ञान) भी अनेक रूपों एवं स्तरों का होता है। सर्वप्रथम अनुभव के सामान्यबोध या ज्ञान (कॉमन सेंस) का स्तर आता है। इस स्तर पर अनुभव के बारे में कोई सुसंगत और व्यवस्थित वैचारिक संरचना नहीं होती। हम व्यवहार में सामान्य बोध के स्तर पर तिल से तेल निकलते हुए भी देखते हैं और तन्तु से पट बनते हुए भी देखते हैं और दोनों का उपयोग भी करते हैं; इन दोनों के मध्य हमें कोई व्याघात नहीं दिखाई देता। किन्तु जब हम अपने इन अनुभवों के बारे में कोई सिद्धान्त या सुसंगत विचार प्रस्तुत करना या बनाना चाहते हैं, उन पर विमर्श और अनुचिन्तन करते हैं तो उनके बीच व्याघात धीरे–धीरे स्पष्ट होने लगता है। सुसंगत एवं व्यवस्थित वैचारिक संरचना में हम इन दोनों को एक साथ समाहित नहीं कर सकते। हम इन दोनों में से किसी एक को अधिमान (वरीयता) देते हैं और दूसरे का निषेध या समीक्षा कर देते हैं। यही दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ है। दर्शन का प्रारम्भ सैद्धान्तिक चेतना या विमर्शक (विमर्शात्मक) चेतना से होता है। सामान्य बोध का कोई दर्शन नहीं होता। वस्तुतः सामान्य बोध दार्शनिक व्याघातों का पुलिंदा है। दर्शन विमर्शात्मक (विमर्शक), विश्लेषणात्मक एवं समीक्षात्मक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। दार्शनिक चेतना विषयपरक चेतना (ऑब्जेक्ट कॉन्शसनेस) के निश्चित विशिष्ट रूपों का विमर्शात्मक अवबोध है और इस रूप में यह विज्ञान से सर्वथा भिन्न है।

सामान्यतया अनुभव लौकिक (ऐन्द्रिक) और अलौकिक (अतीन्द्रिय) इन दो प्रकारों में विभाजित होता है। कुछ दार्शनिक अलौकिक आध्यात्मिक अनुभूति को भी एक विशिष्ट प्रकार का अनुभव ही मानते हैं। दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में अनुभव (ऐन्द्रिक अनुभव) को आधार बनाकर वैचारिक संरचना करने वाले विचारक बहुधा अनुभव के किसी एक पक्ष को वरीयता देकर अपनी वैचारिक संरचना करते हैं और उसके अन्य पक्षों की समीक्षा या निषेध कर देते हैं। जो दार्शनिक चिन्तक अनुभव को यथासम्भव उसकी समग्रता में लेकर अपनी वैचारिक संरचना करने का प्रयास करता है वह भी पूर्णतया वस्तुनिष्ठ नहीं हो पाता। वस्तुतः कोई भी दर्शन पूर्णतया वस्तुनिष्ठ नहीं होता, अन्यथा पूरे विश्व का एक ही दर्शन होता। पूर्णतया वस्तुनिष्ठ होने का दावा केवल विज्ञान ही कर सकता है और दर्शन विज्ञान नहीं है। विज्ञान सतत शुद्ध वस्तुनिष्ठता की खोज में लगा रहता है। अनुभव की वस्तुनिष्ठ प्रामाणिकता का प्रश्न सही अर्थों में विज्ञान में ही उठता है या उठाया जा सकता है, दर्शन के क्षेत्र में नहीं। क्योंकि दर्शन पूर्णतया वस्तुनिष्ठ नहीं होता और उसके अनुभव के विषय और प्रमाण संरचित या माने हुए होते हैं, जो थोड़ी बहुत वस्तुनिष्ठता दर्शन में उपलब्ध होती है वह वास्तव में सामान्यबोध से आयातित की हुयी प्रतीत होती है और सामान्यबोध के स्तर पर कोई दार्शनिक चिन्तन नहीं होता। अतएव जब दर्शन पूर्णतया वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता तो अनुभव को आधार बनाकर की गई वैचारिक संरचना भी पूर्णतया आनुभविक नहीं मानी जा सकती। अनुभव है किन्तु अत्यंन्त संकीर्ण अर्थ में और वह भी कुछ मूलभूत पूर्वमान्यताओं पर आधारित। यह बात दर्शनों की सत्ताविषयक भिन्न–भिन्न मान्यताओं से और स्पष्ट हो जाती है।

ज्ञानार्जन करना मानव की सहज प्रवृत्ति है। अनुभव ज्ञानार्जन की प्रारम्भिक विधा है। प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई विषय होता है। ज्ञान का विषय क्या है? इस प्रश्न पर दार्शनिक विचारधाराओं में पर्याप्त मतभेद हो जाता है और वास्तविक वस्तुनिष्ठ अनुभव पीछे छूट जाता है। यहीं पर आकर दार्शनिक चिन्तन तत्त्वमीमांसीय और परिकल्पनात्मक हो जाता है और एक दृष्टि (विजन) मात्र बनकर रह जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समकालीन दार्शनिक चिन्तन की विलक्षण विशेषता यह है कि इसमें परादार्शनिक (मेटा फिलॉसफिकल) प्रश्न, अन्य दार्शनिक प्रश्नों की तुलना में, अत्यधिक प्रमुखता से उठाये जा रहे हैं। दर्शन आत्मचेतन होने के साथ ही साथ आत्म–गवेषणा में लगा हुआ है। आज दर्शन करने के बारे में प्रश्न नहीं उठाये जाते वरन् दर्शन करने की क्रिया के बारे में प्रश्न उठाये जा रहे हैं। यह पूछा जा रहा है कि दर्शन–क्रिया का अर्थ क्या है और इस क्रिया का स्वरूप क्या है? आज यांत्रिकी का युग है और यांत्रिकी के युग में दर्शन से पृथक् रूप में तत्त्वमीमांसा की प्रासंगिकता के बारे में प्रश्नचिह्न लगाये जा रहे हैं। आज विज्ञान और वैज्ञानिक यांत्रिकी हमारे चिन्तन के हर क्षेत्र को प्रभावित कर रही है। हमारी मनःस्थिति ऐसी हो गयी है कि तत्त्वमीमांसीय चिन्तन हमें निरर्थक प्रतीत होने लगा है। यद्यपि तत्त्वमीमांसा को सिरे से खारिज करने वाले तार्किक भाववादी चिन्तन का काल समाप्त हो चुका है फिर भी उसकी काली छाया आज भी हमारे चिन्तन पर पड़ रही है। हम आज अपने को केवल 'विवरणात्मक' तत्त्वमीमांसा करनें की मनःस्थिति में पाते हैं। 'संशोधनात्मक' तत्त्वमीमांसा भी शालीनतापूर्वक स्वीकार की जाती है। अवधारणात्मक सामग्री का परिकल्पनात्मक संशोधन कर ऐसा हम कर सकते हैं। किन्तु इस प्रकार का अवधारणात्मक पुनर्निर्माण सत्यता का दावा नहीं कर सकता। उत्तर–कालीन विटगेन्स्टाइन और उनके अनुयायी तत्त्वमीमांसा का बचाव करते प्रतीत होते हैं किन्तु उनका यह बचाव वास्तव में तत्त्वमीमांसा का सुस्पष्ट निराकरण करना ही है। वे यह नहीं कहते हैं कि तत्त्वमीमांसा या उसके कथन निरर्थक हैं। 'प्रत्येक कथन का अपना तर्क होता है' इस मान्यता से प्रेरित होकर वे हमें यह दिखलाते हैं कि तत्त्वमीमांसीय कथन केवल भाषीय प्रयोगों के विकृत रूप हैं। तत्त्वमीमांसक उन्हें तथ्यपरक कथन के रूप में स्वीकार करता है किन्तु वस्तुतः वे तथ्यपरक कथन नहीं हैं और वे हमारे साधारण भाषीय प्रयोगों के अनुकूल भी नहीं हैं।

एक बार पुनः हम यह प्रश्न उठाते हैं कि आखिर तत्त्वमीमांसा क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें तत्त्वमीमांसक जिस कार्य में लगे हुए हैं उसका सहानुभूतिपूर्वक विश्लेषण कर उसे समझना होगा। तत्त्वमीमांसा को समझने की समस्या दो भिन्न स्तरों पर खड़ी होती है। प्रथम स्तर पर हमें तत्त्वमीमांसा में प्रविष्ट होकर उसे और उसकी आन्तरिक संरचना को भीतर से समझना होगा और द्वितीय स्तर पर हमें तत्त्वमीमांसा से परे जाकर बाहर से उसे संरचित होते हुए देखना होगा। प्रथम स्तर का सम्बन्ध 'वहाँ क्या है'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के बारे में एक तत्त्वमीमांसीय अन्तर्दृष्टि से है और यह प्रथम स्तर का अन्वेषण है। द्वितीय स्तर पर यह समझना है कि हम वास्तव में क्या करते या कर रहे होते हैं जब हम तत्त्वमीमांसा करते हैं। यह प्रथम स्तर के अन्वेषण में अन्वेषण है, अतएव यह परा अन्वेषण या उच्चतर स्तर का अन्वेषण है। यह अन्वेषण तत्त्वमीमांसीय अन्तर्दृष्टि के मूल में प्रविष्ट होकर उसके मर्म को उद्घाटित करता है।

एक तत्त्वमीमांसीय अन्तर्दृष्टि वह दृष्टि है जिससे तत्त्वमीमांसक जीवन और जगत् को देखता है और उसका मूल्यॉंकन करता है। यह एक विशेष प्रकार की सुव्यवस्थित परिकल्पना (संरचना) है। तत्त्वमीमांसक यह सुव्यवस्थित परिकल्पना जीवन और जगत् को अपने तत्त्वमीमांसीय प्रयोजनों के अनुकूल बनाने के लिये करता है। यह सुव्यवस्थित परिकल्पना इसलिए सम्भव होती है, क्योंकि जगत् में वस्तुएँ वैकल्पिक संरचनाओं का प्रतिरोध नहीं करती हैं। 'जगत् अनेकार्थक है'– यह तत्त्वमीमांसा की सम्भावना की मूलभूत पूर्वमान्यता है। 'जगत्' अपनी सम्पूर्णता में हमारे समक्ष प्रदत्त नहीं होता; जगत् में वस्तुयें, घटनायें, प्रक्रियायें इत्यादि ही हमारे समक्ष प्रदत्त होती हैं। 'जगत्' एक अभिधारणामात्र है, जो केवल तत्त्वमीमांसीय परिकल्पना में ही अस्तित्ववान होता है और इसलिए अनेकार्थक हो सकता है और विभिन्न तत्त्वमीमांसीय प्रयोजनों एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विभिन्न लोगों के लिये विभिन्न रूपों में अर्थवान हो सकता है। 'जगत्' एक बौद्धिक प्रत्यय अथवा एक तत्त्वमीमांसीय अभिधारणा है जिसका निर्माण (संरचना) हम अपने जीवन में वस्तुओं के साथ अपनी क्रिया, प्रतिक्रिया के आधार पर करते हैं। 'जगत्' अनेकार्थक (अस्पष्ट) होने के कारण भिन्न भिन्न लोगों में भिन्न–भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियायें उत्पन्न करने में समर्थ होता है और इसके परिणामस्वरूप वैकल्पिक तत्त्वमीमांसीय वाद (विचार) अस्तित्व में आते हैं। व्यक्ति द्वारा जगत् को देखने और उसका मूल्यॉंकन करने के जितने परिप्रेक्ष्य हो सकते हैं उतने प्रकार के ही तत्त्वमीमांसीय वादों की संरचना की संभावना बनती है। अतएव तत्त्वमीमांसा व्यक्तिपरक (व्यक्तिकेन्द्रित, आत्मनिष्ठ) होती है। तत्त्वमीमांसक अपने जीवन के किसी विशिष्ट प्रयोजन की पूर्ति के लिए अपने अनुभवों और संवेगों के अनुरूप एक ऐसे जगत् की संरचना करता है जो विशेष रूप से उसका निजी जगत् होता है और वह किसी अन्य का जगत् नहीं हो सकता। इसलिए भिन्न–भिन्न तत्त्वमीमांसक भिन्न–भिन्न 'भाषीय खेल' खेल रहे होते हैं और एक के खेल के नियम दूसरे के खेल के लिए पूर्णतया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अप्रासंगिक होते हैं। इस कारण प्रतिद्वन्द्वी तत्त्वमीमांसकों के बीच वास्तव में संवाद नहीं होता। एक तत्त्वमीमांसीय विचार प्रमुखतया एक व्यक्ति का आलाप (संरचित या कल्पित विचार) या कहें मोनोलॉग जैसा होता है और सभी तत्त्वमीमांसीय युक्तियाँ एकजीववादी (अहंमात्रवादी) होती हैं। प्रत्येक तत्त्वमीमांसा का अपने अपने क्षेत्र में आधिपत्य होता है।

यहाँ यह प्रश्न उत्थापित होता है कि आखिर इस विशिष्ट दार्शनिक क्रिया, जिसे हम तत्त्वमीमांसा कहते हैं, की अस्तित्वात्मक स्थिति क्या है? और यह विशिष्ट दार्शनिक क्रिया हमारे जागतिक जीवन–व्यापार से किस प्रकार सम्बन्धित है? कुछ प्रख्यात विचारकों का मानना है कि तत्त्वमीमांसा 'पूर्ण आत्मत्व' (सेल्फहुड) प्राप्त करने का प्रयासमात्र है। व्यक्ति अपने को इस जगत् की वस्तुओं में एक बाहरी व्यक्ति समझता है या वह अपने को इस जगत् की वस्तुओं में (स्वयं को) एक और वस्तु समझता है। फिर भी वह इस आरोपित वस्तुत्व (थिंगहुड) से सन्तुष्ट नहीं होता, और एक प्रकार से मानसिक तनाव, परिताप (मनोव्यथा, वेदना), एकाकीपन और दुःख में जीता है। तत्त्वमीमांसक कुछ मूल्यों को अपने हृदय में सँजोये रखता है और जब वह उन मूल्यों को लेकर इस जगत् में जाता है और उन मूल्यों को जगत् में नहीं पाता है तो उसकी चेतना बार–बार धक्का खाकर और ऊपर और ऊपर उठती जाती है और फिर वह अपने लिए एक ऐसे काल्पनिक जगत् की संरचना करता है जिसमें उसके जीवन मूल्य यथार्थ हो जाते हैं। इस संरचित जगत् में उसका समूचा तनाव, परिताप, एकाकीपन और दुःख समाप्त हो जाता है और इस तरह के जगत् में उसे पूर्ण विश्रान्ति मिलती है और वह शान्तिपूर्वक जीता है। एक तत्त्वमीमांसीय जगत् पूर्णतया संरचित जगत् होता है जिसकी संरचना व्यक्ति (तत्त्वमीमांसक) अपनी धार्मिक, आध्यात्मिक, भौतिक अथवा आनुभविक रुझानों के अनुरूप करता है। अतएव तत्त्वमीमांसीय जगत् अन्तर–व्यक्तिपरक जगत् से सर्वथा भिन्न होता है। वस्तुतः तत्त्वमीमांसीय जगत् तत्त्वमीमांसक के आत्म की अभिव्यक्ति होती है; यह उसके आत्म का परिवर्तित एवं प्रक्षिप्त रूप होता है। इस आत्म को निरपेक्षतावादी आत्म नहीं समझा जाना चाहिए क्योंकि संरचना करने वाला आत्म मात्र (केवल) विमर्शात्मक आत्म होता है। तत्त्वमीमांसायें तार्किक (बौद्धिक) पद्धतियों द्वारा निर्धारण करने योग्य अमूर्त सिद्धान्त नहीं होतीं, अपितु उनमें कुछ (परा बौद्धिक) प्राक्–बौद्धिक और अतार्किक अंश समाहित (विद्यमान) रहते हैं। तत्त्वमीमांसा तत्त्वमीमांसक के आत्म (अहम्) का ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विस्तार (प्रतीत) होती है जिसके माध्यम से वह आत्म–परितोष प्राप्त करता है। तत्त्वमीमांसक और तत्त्वमीमांसा के बीच एक विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध होता है जिसे कुछ हद तक आत्म और उसके शरीर के बीच सम्बन्ध जैसा समझा (माना) जा सकता है। वस्तुतः तत्त्वमीमांसक और तत्त्वमीमांसा के बीच तादात्म्य सम्बन्ध होता है किन्तु तत्त्वमीमांसक सामान्यतया इस सम्बन्ध के बारे में अभिज्ञ नहीं होता। तत्त्वमीमांसीय जगत् एक तरह से तत्त्वमीमांसक का अपना शरीर (जैसा) ही होता है जिसमें वह स्वयं को परिपूर्ण रूप में प्राप्त करता है। वह (तत्त्वमीमांसीय जगत्) तत्त्वमीमांसक के आत्म एवं उसकी परिकल्पनाओं का मूर्त (साकार) रूप होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो तत्त्वमीमांसक यह पूर्ण आत्मविश्वास से युक्त होकर कैसे कह सकता कि जगत् सात पदार्थों या दो तत्त्वों का बना है। जगत् अपनी सम्पूर्णता में हमारे अनुभव में प्रदत्त नहीं होता। फिर भी तत्त्वमीमांसक पूरी तरह विश्वस्त होकर कहता है कि जगत् ऐसा है या वैसा है और वह इस/इन तत्त्व/तत्त्वों का बना है। आखिर वह यह सब कुछ कैसे जानता है और उसके इस आत्मविश्वास का आधार (स्रोत) क्या है? यह ज्ञान निश्चिततः किसी आगमनात्मक अन्वेषण से प्राप्त नहीं हो सकता। आनुभविक सामान्यीकरण से प्राप्त ज्ञान भी केवल अस्थायी (अंतरिम) और संशोधनीय होता है; किन्तु तत्त्वमीमांसीय कथनों का इस तरह का स्वभाव (स्वरूप, लक्षण) नहीं होता। तत्त्वमीमांसीय सत्य अकाट्य (सुनिश्चित) होते हैं जिन्हें किसी तथ्य को प्रस्तुत करके प्रमाणित अथवा अप्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती। वे स्वतः सिद्ध होते हैं, उन्हें केवल प्रकाशित (उद्घाटित) किया जाता है। ह्वाइटहेड का कहना है कि– "दर्शन पद का सही अर्थ यह है कि दर्शन वह है जिसे सिद्ध (प्रमाणित) नहीं किया जा सकता.....। दर्शन या तो स्वतः सिद्ध है या वह दर्शन नहीं है.....। दर्शन का उद्देश्य मात्र उद्घाटन (प्रकटीकरण) होता है।" और यदि ये सत्य हमारे चारों तरफ विद्यमान वस्तुओं में आनुभविक अन्वेषण से एकत्रित किये हुए रूप में प्राप्त नहीं होते तो इन्हें केवल शरीरी जीव (तत्त्वमीमांसक) के निजी आन्तरिक अनुभवों में ही प्रदत्त माना जा सकता है। तत्त्वमीमांसा के स्वरूप के बारे में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य[1] का कहना है कि "तत्त्वमीमांसीय विषय–वस्तु (अन्तर्वस्तु) की किसी भी भिन्नता (पृथक्ता) का तर्काधार (तार्किक आधार) अन्तर्निरीक्षणात्मक बुद्धिगम्य आध्यात्मिक अनुभव की भिन्नता (पृथक्ता) में ही प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ तक कि वस्तु का जड़ वस्तु, जीवन और चेतन (मन) में अपरिष्कृत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभाजन भी तथ्य के आगमनात्मक वर्गीकरण के रूप में बोधगम्य नहीं होता है। ये सब जो हैं, हैं, कम से कम इन्हें आगमन के द्वारा कभी भी जाना नहीं जा सकता। इस तरह का चिन्तन केवल अन्तर्निरीक्षणात्मक अथवा अनुभूत विषय (अन्तर्वस्तु) के प्रतीक के रूप में स्वयंसिद्ध होता है।" ऐसा चिन्तन तत्त्वमीमांसक की स्वयं की अनुभूतियों एवं उसकी सहज (सरल, स्वाभाविक) अथवा एकात्मक चेतना का प्रतीकात्मक विश्लेषण होता है। यदि तत्त्वमीमांसा दर्शन है तो दर्शन प्रतीकात्मक अवधारणाओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। दर्शन स्वतः सिद्ध अवधारणाओं का स्वतः सिद्ध विस्तार है। एक तत्त्वमीमांसक अपने अन्तर्निरीक्षणात्मक बोध में सात पदार्थों को खोजता है, जबकि दूसरा दो मूलभूत तत्त्वों के अस्तित्व को उद्घाटित करता है। उनके बीच विवाद निरर्थक है क्योंकि वे दो अलग–अलग वस्तुओं के बारे में बात कर रहे होते हैं। वास्तव में वे दो सर्वथा भिन्न आत्मत्व के बारे में बात कर रहे होते हैं।

अविधेय यह है कि 'जगत्' एक प्रदत्त तथ्य नहीं है वरन् वह एक तत्त्वमीमांसीय संरचना है। इस संरचना का मूल तत्त्वमीमांसक की प्रकृति एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति (मनोवृत्ति, झुकाव) में निहित होता है। एक तत्त्वमीमांसक के रूप में व्यक्ति अपनी भावना (धारणा, कल्पना) के अनुरूप जगत् का निर्माण करता है और निर्मित जगत् उसके आत्म (अहम्, अन्तर्मन) का प्रतिबिम्ब (मूर्तरूप) होता है। यह बात किसी भी तत्त्वमीमांसीय या, एक सीमा तक दार्शनिक, चिन्तन के लिये समान रूप से सत्य प्रतीत होती है। वैसे तो एक तत्त्वमीमांसीय आत्मत्व की उपलब्धि (प्राप्ति) अनेक रूपों में सम्भव है। फिर भी मूलतः तत्त्वमीमांसा के दो आद्य रूप जान पड़ते हैं। तत्त्वमीमांसक अपने जगत् की संरचना (निर्माण) दो भिन्न रूपों में कर सकता है। एक रूप तो यह हो सकता है कि वह स्वयं को जगत् की वस्तुओं की तरह ही एक वस्तु मान लेता है और इस प्रकार जगत् की वस्तुओं एवं व्यक्ति के बीच तनाव को दूर (समाप्त) कर देता है। जगत् को इस प्रकार की दृष्टि से देखने एवं मूल्यॉंकन करने के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की वस्तुवादी एवं अनुभववादी तत्त्वमीमांसाओं की संरचना होती है। इस प्रकार के चिन्तन में व्यक्ति (मानव) की विलक्षणता और उसकी अस्तित्वपरक दशा (दुर्दशा, विषमावस्था) का मूल्यॉंकन गौण हो जाता है और जगत् का मूल्यॉंकन करना ही प्रमुख होता है। इस तरह के दृष्टिकोण को तत्त्वमीमांसीय स्व–पीड़नसुखवाद या आत्म–अवमानना–आनन्दवाद (Metaphysical Masochism) कहा जा सकता है।[2] जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का एक वैकल्पिक ढंग यह है कि व्यक्ति (मानव) को जगत् की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तुओं के केन्द्र में रख दिया जाय। यह ढंग भी पूर्णतया कल्पनाप्रसूत ही होता है। इस परिकल्पना में आत्म प्रयोजन की एकता के आधार रूप में होगा जिसके चारों ओर जगत् घूमता है। केवल तथ्य ही नहीं वरन् मानव मूल्य भी इस तरह के जगत् के संघटक कारक (कारण) होंगे। चिन्तन के इस ढंग से विज्ञानवादी, आदर्शवादी एवं परमसत्वादी विचारधारायें अस्तित्व में आती हैं। इस तरह की तत्त्वमीमांसा में किसी भी प्रकार के अशुभ, अव्यवस्था आदि को आभासमात्र (ऊपरी, बाहरी) माना जाता है; वे वास्तविक नहीं होते। चिन्तन के इस ढंग को तत्त्वमीमांसीय आत्मासक्ति (आत्ममोह, आत्मरति) वाद ('Metaphysical Narcissism') कहा जा सकता है।[3]

चिन्तन का एक तीसरा ढंग भी सम्भव है। विचारक अपने को तत्त्वमीमांसीय चिन्तन से अलग करके तटस्थ भाव से यह समझने का प्रयास करता है कि वास्तव में तत्त्वमीमांसक क्या करता (कर रहा होता) है जब वह तत्त्वमीमांसीय परिकल्पना करता है या कर रहा होता है। इस तरह का विचारक स्वयं किसी जगत् की कल्पना नहीं करता। वह तत्त्वमीमांसा के मूल में प्रविष्ट होकर उसके रहस्यों को उद्घाटित करता है। तत्त्वमीमांसीय क्रियाकलापों की यह निष्पक्ष (तटस्थ) समझ भी पूर्ण आत्मत्व प्राप्ति का एक तरीका हो सकती है। यह उच्चतर स्तर की दार्शनिक क्रिया है। यह शून्यता–दर्शन है। और यदि दर्शन तत्त्वमीमांसा है तो शून्यता–दर्शन को ('Meta Philosophy') अधिदर्शन कहना अधिक उपयुक्त होगा।

हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि तत्त्वमीमांसा के दो मूलभूत रूप हैं– (1) वस्तुवाद और अनुभववाद और (2) विज्ञानवाद और परमसत्वाद। तत्त्वमीमांसा के ये दो मूलभूत रूप एक ही भाषा नहीं बोलते। अपनी वैचारिक संरचना में ये जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह परस्पर भिन्न कार्यों को सम्पादित करती हुई प्रतीत होती है। ऐसा इसलिए होता है कि इन दोनों के बीच एक आधारभूत (मौलिक) भेद है। इसके पहले रूप की मान्यता है कि हमारे विचारों का आधार हमारा अनुभव है। इसमें वास्तविकता के विपरीत ऐसा माना जाता है कि हम जगत् की वस्तुओं के अनुभव से विचार की ओर आते हैं और तदनुरूप वैचारिक संरचना करते हैं। तत्त्वमीमांसा का दूसरा रूप अपने विचारों से जगत् की वस्तुओं की ओर चलता है और अपने विचारों के अनुरूप जगत् की संरचना करता है। पहला रूप जगत् सम्बन्धी हमारे विचारों की संरचना का विवरण होने के कारण विवरणात्मक तत्त्वमीमांसा के नाम से जाना जाता है और दूसरा रूप एक उच्चतर वैचारिक जगत् की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सृजनात्मकता से सम्बन्धित होने के कारण परिशोधनात्मक तत्त्वमीमांसा के नाम से अभिहित किया जाता है। अतएव प्रथम रूप की भाषा वर्णनात्मक है और द्वितीय रूप की भाषा अभिव्यक्तात्मक। प्रथम रूप यह मानता है कि हम जो अनुभव करते हैं उसी का वर्णन करते हैं। तत्त्वमीमांसा आनुभविक तत्त्वों की मीमांसा है। तत्त्वमीमांसक इस रूप की तत्त्वमीमांसा की संरचना सामान्य अनुभव से प्रारम्भ तो करता है किन्तु वह इस सामान्य अनुभव को ज्ञान के लिए अयथेष्ट, अपूर्ण और अव्यवस्थित पाता है। वह अनुभव के अस्त–व्यस्त और बिखरे हुए अंशों को संगठित करते हुए एक अवधारणात्मक सैद्धान्तिक संरचना करता है, जिसमें जगत् का विवरण, विश्लेषण और स्पष्टीकरण हो सके और सैद्धान्तिक संरचना में ही तत्त्वमीमांसा (अपना) रूप ग्रहण करती है। पाश्चात्य दर्शन में कुछ विचारक (स्ट्रासन) काण्ट के दर्शन को विवरणात्मक तत्त्वमीमांसा के एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं किन्तु मेरे विचार से काण्ट के दर्शन को विवरणात्मक तत्त्वमीमांसा का उदाहरण नहीं माना जा सकता। काण्ट यह अवश्य मानता है कि ज्ञान की सामग्री हमें अनुभव से प्राप्त होती है किन्तु वह यह भी मानता है कि यथार्थ हमें अनुभव में प्रदत्त नहीं होता, वरन् वह एक पहेली (रहस्य) के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होता है और उसे अन्तर–वैयक्तिक रूप देने के लिए (हमें) अवधारणात्मक संरचना करनी पड़ती है। इस प्रक्रिया में अनुभव से प्राप्त ज्ञान की सामग्री बुद्धि की प्राक् आनुभविक वर्गणाओं में ढल कर ही ज्ञान का रूप ले पाती है। परिणामतः ज्ञान में आत्मनिष्ठ अंश समाहित (प्रविष्ट) हो जाता है और वह वस्तुनिष्ठ और विवरणात्मक नहीं रह जाता। तत्त्वमीमांसक सत्य को बनाता है। यथार्थ आनुभविक न होकर आत्मनिष्ठ हो जाता है । मानो बुद्धि आत्मनिष्ठ क्रिया के द्वारा प्रकृति का निर्माण करती है। कांट ऐसा मानते भी हैं। इसलिये काण्ट के दर्शन को विवरणात्मक तत्त्वमीमांसा का उदाहरण नहीं माना जा सकता। काण्ट अपने चिन्तन को केवल अनुभव तक ही सीमित नहीं करता अपितु वह अनुभव का अतिक्रमण करके संवृत्ति और परासत्ता (नोमेना) के बीच भेद भी स्थापित करता है और परासत्ता को अज्ञात और अज्ञेय मानता है। प्रसिद्ध अनुभववादी लॉक भी कहता है कि 'भौतिक तत्त्व कुछ है अवश्य किन्तु मुझे नहीं ज्ञात है कि वह क्या है'। अतएव अनुभव से जो ज्ञात हुआ है, मात्र वही यथार्थ (सत्) है, यह बात न तो लॉक स्वीकार कर पाता है और न काण्ट। विवरण वस्तुनिष्ठ होता है और हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि दर्शन पूरे तौर से वस्तुनिष्ठ नहीं होता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में भी जो दार्शनिक सम्प्रदाय अनुभव के आधार पर वस्तुवाद की स्थापना करता है उसे भी विवरणात्मक तत्त्वमीमांसा का रूप नहीं माना जा सकता। भारतीय दर्शन में ऐसे मुख्यतः तीन सम्प्रदाय हैं– सांख्य, न्याय–वैशेषिक और बौद्ध। चार्वाक अनुभव को तो स्वीकार करता है; कुछ अनुभवगम्य तत्त्वों को भी स्वीकार करता है किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य उस काल में प्रचलित तथाकथित परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान करना ही रहा है। सांख्यदर्शन में निरीश्वरवादात्मक द्वैतवादी वस्तुवाद (सांख्यकारिका) का प्रतिपादन होता है। न्यायवैशेषिक में मुख्य रूप से न्याय दर्शन में ईश्वरवादात्मक वस्तुवाद की स्थापना होती है। बौद्ध दर्शन (सौत्रान्तिक सम्प्रदाय) में निरीश्वरवादात्मक समीक्षात्मक वस्तुवाद की स्थापना होती है। बौद्ध दर्शन अनेकवादी है। इसके अनुसार दो प्रकार के धर्म हैं– स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। स्वलक्षण अर्थक्रियाकारी होने से परमार्थसत् और निर्विकल्पक है और सामान्यलक्षण संवृतिसत् और विचार रचित है। मात्र स्वलक्षण ही अनुभव में प्रदत्त है, सामान्यलक्षण विचार रचित होने से अनुभव में प्रदत्त नहीं होते। सांख्य दो तत्त्वों को स्वीकार करता है– पुरुष (चेतन) और प्रकृति (अचेतन)। सांख्य भी परमज्ञान की स्थिति (अवस्था) को निर्विकल्पक मानता है। न्यायवैशेषिक भारतीय दर्शन का विलक्षण सम्प्रदाय है। इसकी विलक्षणता इस बात में निहित है कि जहाँ भारतीय दर्शन के अधिकांश दार्शनिक सम्प्रदाय यथार्थसत्ता को तत्त्व कहते हैं और उसे अन्ततः अनभिलाप्य मानते हैं, न्याय दर्शन यथार्थ को पदार्थ कहता है– 'अभिधेय होना' पदार्थ (यथार्थ) का एक लक्षण है। भाषा यथार्थता की निर्देशिका (अभिसूचक, अनुक्रमणिका) है। भाषा को अत्यधिक महत्त्व देते हुए न्याय सात पदार्थों को (यथार्थ) स्वीकार करता है। इन सभी पदार्थों को यथार्थ स्वीकार करने का आधार अनुभव है। अब यहाँ प्रश्न उत्थापित होता है कि जब उपरोक्त सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अनुभव को आधार बनाकर अपना दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ करते हैं और यदि यथार्थ प्रदत्त है, तो यथार्थ को लेकर उनके बीच इतना मतभेद क्यों है? क्यों किसी के लिए दो तत्त्वों की सत्ता है और किसी के लिए सात पदार्थों की और किसी के लिए स्वलक्षण की? आखिर अनुभव का सर्वसाधारण (सार्वभौम) रूप क्या है? जो जिन्हें यथार्थ मानता है, उनके बारे में वह पूर्ण आत्मविश्वास (आस्था से) के साथ कहता है कि मात्र यही यथार्थ है; न इनसे कम न अधिक। उनके इस पूर्ण आत्मविश्वास का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधार क्या है? स्पष्ट है कि उनके इस पूर्ण आत्मविश्वास का आधार उनके द्वारा माना गया तथाकथित अनुभव नहीं है, क्योंकि यदि अनुभव आधार होता तो अनुभव को ध्यान में रखते हुए (एवं) उसकी सहायता से उनके बीच विवाद को सुलझाया जा सकता था और उनके बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता था। किन्तु ऐसा होता नहीं है। उनके बीच जितना ही अधिक आक्षेप–प्रत्याक्षेप होते हैं उनसे उनके बीच क्रमशः उतना ही अधिक तीक्ष्ण भेद स्पष्ट होता है। इससे मुझे यही प्रतीत होता है कि वे भिन्न–भिन्न यथार्थ अनुभव से निःसृत (निगमित) नहीं हैं, वरन् वे उनके आत्म से निःसृत हैं और उनके आत्म की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। अतएव तत्त्वमीमांसा विवरणात्मक (डिस्क्रिप्टिव) हो ही नहीं सकती। तत्त्वमीमांसा का विवरणात्मक होना वदतो–व्याघात है। तथाकथित अनुभव पर आधारित तत्त्वमीमांसाओं में जो विवरण (वर्णन) उपलब्ध होते हैं, वे वास्तविक विवरण न होकर छद्म विवरण होते हैं। तत्त्वमीमांसा चाहे वह अनुभववादी और वस्तुवादी हो या वह विज्ञानवादी और परमसत्वादी हो, सभी की भाषा समान रूप से अभिव्यक्तात्मक (एक्सप्रेसिव) होती है। काव्य एवं धर्म, मिथक एवं तत्त्वमीमांसा, इन सभी में भाषा अभिव्यक्तात्मक कार्य सम्पादित करती है। भाषीय व्यापार की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। तत्त्वमीमांसा और धर्म, काव्य एवं मिथक से इस अर्थ में भिन्न हैं कि तत्त्वमीमांसक एवं धर्मशास्त्री जब तत्त्वमीमांसा या धर्मशास्त्र की संरचना कर रहे होते हैं तब उन्हें इस बात का बोध नहीं रहता है कि वे परिकल्पना कर रहे हैं या अपने संवेगों को ही अभिव्यक्त कर रहे हैं, जबकि एक कवि जब वह कविता का सृजन कर रहा होता है, तथा एक मिथककार जब वह मिथक बना रहा होता है, तो उन्हें एक सीमा तक इस बात का बोध रहता है कि वह परिकल्पना कर रहा है या वह अपने संवेगों को अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव तत्त्वमीमांसा आत्मनिष्ठ होती है और वह तत्त्वमीमांसक के आत्मत्व के ग़ूढ़तम् सत्य को उद्घाटित करती है। अन्त में हम अल्फ्रेड नॉर्थ ह्वाइटहेड के विचारों के आधार पर, जिसे उन्होंने अपनी कृति 'प्रोसेस एण्ड रियलिटी'[4] के प्रारम्भ में व्यक्त किया है, यही कहना चाहूँगा कि दर्शन (दार्शनिक चिन्तन) अनिवार्यतः परिकल्पनात्मक होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह पूर्णतया काल्पनिक होता है और अनुभव तथा वास्तविकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। दार्शनिक चिन्तन का सम्बन्ध अनुभव से होता है किन्तु दार्शनिक अपने चिन्तन को अनुभव–विशेष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से ऊपर उठाकर सभी अनुभवों के सामान्य रूपों को स्पष्ट करने का प्रयास करता है और इसी कारण उसका चिन्तन परिकल्पनात्मक हो जाता है। अतएव कहा जा सकता है कि विश्व को संरचित करने वाले तात्त्विक तत्त्वों की खोज और उनकी मीमांसा ही तत्त्वमीमांसा है। तत्त्वमीमांसा में जो तर्क, युक्तियाँ, प्रमाण इत्यादि प्रस्तुत किये जाते हैं, वे बुद्धि के स्वतंत्र क्रिया–कलाप नहीं होते, वरन् तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यताओं और यहाँ तक कि प्रकाशित ज्ञान के सापेक्ष होते हैं एवं उनके अनुकूल होते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आज विज्ञान और यांत्रिकी के बढ़ते प्रभाव ने तत्त्वमीमांसीय चिन्तन के सामने एक पूर्ण विराम सा लगा दिया है। भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों दर्शनों में कोई सर्वथा नवीन तत्त्वमीमांसीय चिन्तन नहीं हो रहा है। तत्त्वमीमांसीय चिन्तन अब इतिहास की बात हो गयी है। भारतीय दर्शन में जो तत्त्वमीमांसा हम पढ़ते–पढ़ाते हैं वह वस्तुतः तत्त्वमीमांसा का इतिहास है। पाश्चात्य दर्शन में भी सैमुयल अलेक्जेण्डर एवं अल्फ्रेड नार्थ ह्वाइटहेड की प्रकृतिवादी तत्त्वमीमांसा, हाइडेगर की अन्वेषणात्मक तत्त्वमीमांसा तथा स्ट्रासन की विवरणात्मक तत्त्वमीमांसा (जिसे कि वास्तव में तत्त्वमीमांसा के प्रचलित अर्थ में तत्त्वमीमांसा कहा ही नहीं जा सकता) के बाद भी कोई नवीन तत्त्वमीमांसीय चिन्तन आज हो रहा है, मुझे ज्ञात नहीं है। उत्तर आधुनिकतावाद के प्रभाव में जीवन और जगत् के बारे में सम्पूर्णतावादी (सम्पूर्णतावादात्मक) दार्शनिक चिन्तन मृतप्राय हो गया है और उसका स्थान छोटे–छोटे विषयों एवं समस्याओं पर दार्शनिक चिन्तन ने ले लिया है।

तर्कीय प्रत्यक्षवाद एवं तर्कीय भाववाद के द्वारा पारम्परिक तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान का जो आन्दोलन 20वीं शताब्दी में जोरों से चला और शांत भी हो गया, उसका प्रभाव पाश्चात्य विचार–संस्कृति पर चाहे जैसा भी पड़ा हो (हो सकता है कि यह पाश्चात्य विचार–संस्कृति की आन्तरिक गतिशीलता की आवश्यक निष्पत्ति हो) परन्तु उसका प्रभाव भारतीय दार्शनिक चिन्तन एवं भारत की दार्शनिक मनोवृत्ति के लिए कतई अच्छा नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि तत्त्वमीमांसा की मानवोचित विवक्षा में ही भारतीय दर्शन का आरम्भ और अन्त होता है। परन्तु गौरतलब है कि जब तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान का आन्दोलन अपनी प्रभावमत्ता में चरम पर था तो उन्हीं दिनों भारत के दार्शनिकों ने इस विलायती पूर्वपक्ष का भारतीय प्रत्युत्तर देने का एक असंगठित परन्तु विशिष्ट प्रयास किया है। ऐसे भारतीय दार्शनिकों में प्रो.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के.सी. भट्टाचार्य, प्रो.टी.आर.वी.मूर्ति, प्रो. कालिदास भट्टाचार्य, यशदेव शल्य एवं प्रो.ए.के.चटर्जी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इन सबों ने न्यूनाधिक रूप से पश्चिमी तत्त्वमीमांसा से भिन्न भारतीय तत्त्वमीमांसा के उत्स और औचित्य को आत्मचेतन मनुष्य की आत्मगवेषणा के रूप में देखा है।[5] हमारा यह आलेख भी प्रो.ए.के. चटर्जी के एतद्विषयक बहुचर्चित निबन्ध 'मेटाफिजिक्स, सबजेक्टिविटी एण्ड मिथ' से बहुलांश में प्रभावित है।

दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *स्टडिज इन फिलॉसफी, भाग 2, सम्पा. गोपीनाथ भट्टाचार्य, प्रोग्रेसिव पब्लि., कलकत्ता, 1958, पृ. 111*
2. *ए.के. चट्र्जी, मेटोफिजिक्स, सब्जेक्टिविटी एण्ड मिथ, (इन डिफेंस ऑफ मेटाफिजिक्स, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा एवं संजय कुमार शुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2008 में सम्मिलित) पृ. 117*
3. *वही पृ. 117*
4. *ह्वाइटहेड, प्रोसेस एण्ड रियलिटी, दि फ्री प्रेस न्यूयार्क, 1955, अध्याय 'स्पैक्युलेटिव मेटाफिजिक्स'*
5. *द्रष्टव्य, इन डिफेंस ऑफ मेटाफिजिक्स : एन इण्डियन एनकाउण्टर पिथ लॉजिकल पॉजिविज्म, सम्पादक – अम्बिकादत्त शर्मा एवं संजयकुमार शुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2008*

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कांट के दर्शन का तात्पर्य - III*

कृष्णचंद्र भट्टाचार्य

अनुवादक : मुकुन्द लाठ

(7) **बुद्धि, मन और बाह्येन्द्रिय की विषयरचना का परस्परापेक्षत्व** – हमने देखा कि एक ही कृतिस्वरूप आत्मा की स्वतन्त्र और परतन्त्र, ये दो मूर्तियां हैं। इसी तरह यह भी मानना होगा कि विषयज्ञानस्वरूप एक ही आत्मा की बुद्धि और इन्द्रिय, ये दो शक्तियां हैं। द्विरूप होकर भी आत्मा एक कैसे रहती है, यह इन दोनों क्षेत्रों में ही अज्ञेय है। किन्तु आत्मा के द्वैरूप्य का अपलाप नहीं किया जा सकता; यह अनुभव–सिद्ध है। बुद्धि की क्रिया है, अध्यवसाय, और इन्द्रिय की क्रिया है, ग्रहण। बुद्धि की क्रिया की अपेक्षा से इन्द्रिय–गृहीत पदार्थ को उपादान कहा जा सकता है; इन्द्रियक्रिया की अपेक्षा से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त पदार्थ उपादान है। बुद्धिक्रिया का साक्षात् उपादान अन्तरिन्द्रिय–गृहीत विषय होता है, जो काल का आकार लिये होता है। अन्तरिन्द्रिय–क्रिया का साक्षात् उपादान बाह्येन्द्रिय–गृहीत देशाकार–विषय होता है। बाह्येन्द्रिय–क्रिया का भी उपादान होता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता, पर उसे ज्ञात विषय नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि वह है तो अनात्मपदार्थ ही, पर उसका न कोई आकार है न प्रकार। पर वह नितांत अव्यक्त भी नहीं है। लेकिन इन्द्रिय उसका *ग्रहण* नहीं करती। उसके बारे में यही अनुभूति होती है कि 'वह बस *प्राप्त है*'। हां, यह निश्चयात्मक कल्पना फिर भी होती है कि वह पदार्थ जो बाह्येन्द्रिय द्वारा प्राप्त मात्र है, वह नितांत अव्यक्त अनात्मवस्तु द्वारा इन्द्रिय पर किया या दिया जाता अभिघात–रूप है। इस अभिघात–रूप उपादान की उपलब्धि के होने पर ही बाह्येन्द्रिय की ग्रहण–क्रिया को ग्रहण का अवकाश मिलता है। इस उपादान से ग्रहण–क्रिया देशाकार विषय की रचना करती है। अन्तरिन्द्रिय जब इस देशाकार विषय को उपादान के रूप में पाती है तो अपनी ग्रहण–क्रिया द्वारा उससे कालाकार विषय की रचना करती है।

**गतांक से आगे क्रमशः ....*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बाह्येन्द्रिय को जो अनाकारित उपादान प्राप्त होता है उसके बारे यह प्रतीति होती है कि 'यह अव्यक्त विषयवस्तु द्वारा दिया गया बाह्य अभिघात है'। पर अन्तरिन्द्रिय को जो देशाकार–रूपी उपादान प्राप्त होता है उसके बारे में प्रतीति यह होती है कि 'यह बुद्धिरूप आत्मा द्वारा प्रदत्त आन्तर अभिघात है'। कालाकार विषय के बारे में कहा जा सकता है कि 'यह ऐसा उपादान है जो बुद्धि– क्रिया की अपेक्षा रखता है', पर बुद्धि इस उपादान द्वारा अभिहत नहीं होती है। बुद्धि इस उपादान का ग्रहण भी नहीं करती; वह कालाकार विषय से विविक्त रहती हुई अध्यवसाय–क्रिया द्वारा उस उपादान में सम्बन्धात्मक प्रकार का उद्घाटन करती है। इस तरह इन्द्रिय की सहायता से बुद्धि अव्यक्त वस्तु द्वारा उपादान में आकार–प्रकार रूपी व्यक्तता की घटक बनती है और आभासात्मक विषयवस्तु को प्रकाशित करती है।

पर विषयज्ञान का यह विवरण व्याख्या भी चाहता है। ऊपर हमने ज्ञान–क्रिया के इस क्रम को विवृत किया है: इन्द्रियप्राप्त उपादान में देशाकार की कल्पना>कालाकार की कल्पना>और प्रकारकल्पना। यह क्रम कालनिष्ठ क्रम नहीं हो सकता; हो भी तो प्रकार–कल्पना में कालाकार–कल्पना और कालाकार–कल्पना में देशाकार–कल्पना, ये क्रियाओं का रूप नहीं लेतीं– यह नहीं कह सकते कि कल्पना यहां फल मात्र है। अतएव, अध्यवसाय–रूपी विषयज्ञान में इन तीनों कल्पनाओं का यौगपद्य स्वीकार करना होगा। लक्ष्य है कि यहां प्रत्येक कल्पना ज्ञानात्मक है, अलीक कल्पना नहीं है। अतएव, यह भी कहा जा सकता है कि देशाकर–कल्पना में कालाकार–कल्पना और कालाकार–कल्पना में प्रकार–कल्पना अस्फुट या अविभक्त भाव से विद्यमान रहती है। तो, इस संदर्भ में जिस क्रम की बात की गई, उसे प्रधानतः अपेक्षा का क्रम समझना चाहिये। हम पाते हैं कि प्रकार–कल्पना में कालाकार–कल्पना की, और कालाकार–कल्पना में देशाकार–कल्पना की अपेक्षा साक्षात् है। यह भी कहा जा सकता है कि पहली कल्पना में द्वितीय कल्पना 'गर्भित' है, और द्वितीय कल्पना में तृतीय कल्पना 'गर्भित' है। विषय–ज्ञान की प्रकटता इस ज्ञान में होती है कि 'प्रकार बाह्य–विषय निष्ठ है'। अगर बाह्य या देशाकार विषय की आन्तर या कालाकार विषय के रूप में प्रतीति न हो तो फिर उसमें प्रकार की प्रतीति भी नहीं हो सकती– इस बात को समझ लेने पर ही कल्पना–त्रय की परस्परापेक्षा–जन्य एकात्मकता समझी जा सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'बाह्य–विषय का प्रत्यक्ष हो रहा है', यह ज्ञान ही उस विषय का आन्तर या मानस प्रत्यक्ष होता है। पर विषय–प्रत्यक्ष के *अनुव्यवसाय* में विषय–प्रत्यक्ष रूप मानस व्यापार का ही ज्ञान होता है, प्रत्यक्षविषय का ज्ञान नहीं। यह सही है कि इस ज्ञान में भी विषय की गौण भाव से प्रतीति रहती है, पर इस प्रतीति में विषय की वस्तु या अवस्तु के रूप में प्रतीति नहीं होती। तो, किसी विषय का मानस या आन्तर ज्ञान हम उस ज्ञान को कह सकते हैं जिसमें उस बाह्यविषय के वस्तु होने का बोध विलुप्त नहीं होता। किसी प्रत्यक्ष विषय के ज्ञान में जब विषय का वस्तुता बोध बना रहता है तो उस बोध के प्रत्यक्षत्व या साक्षत्–भाव का भी बोध बना रहता है–उस बोध का व्यत्यय घटित नहीं होता। यों, किसी बाह्य विषय का मानस प्रत्यक्ष उस बाह्य विषय के ज्ञान में गर्भीभूत उस बाह्य–विषय का प्रत्यक्ष ही होता है। बाह्य प्रत्यक्ष का विषय ही मानस प्रत्यक्ष का भी विषय होता है। दोनों में अन्तर यही है कि मानस प्रत्यक्ष में देशाकार रूपी बाह्य विषय कालाकार–ग्रस्त हो जाता है। वह मानस वृत्ति जो बाह्य प्रत्यक्ष का रूप लेती है वह देश में स्थित नहीं होती, काल में उत्पन्न और स्थित होती है–इसी अर्थ में वह देशाकार नहीं हो कर कालाकार होती है। ऐसी मानस–वृत्ति से उसका विषय भिन्न होता है, यह तो कहा जा सकता है, लेकिन इस वृत्ति के ज्ञान में विषय और वृत्ति के बीच भेदग्रहण नहीं होता; इसीलिये वृत्ति का कालाकार–स्वरूप विषय में भी कालाकार रूप से ही प्रतिभात होता है। सच यह है कि बाह्य–प्रत्यक्ष रूपी मानस वृत्ति कालाकार ही होती है, देशाकार नहीं। पर, क्योंकि यह वृत्ति अपने विषय से विभक्त नहीं होती, इसलिये विषय का देशाकार रूप भी इस वृत्ति के कालाकार रूप से अभिन्न ही रहता है। फिर भी यह बोध रहता है कि कालाकार से देशाकार भिन्न है। बाह्य–प्रत्यक्ष–रूपी वृत्ति के ज्ञान में विषय के कालाकार और देशाकार का यह भेदाभेद–सम्बन्ध, 'कालाकार के भीतर देशाकार गर्भीभूत है', ऐसे वाक्य द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है। बाह्येन्द्रिय द्वारा गृहीत देशाकार विषय ही अन्तरिन्द्रिय द्वारा गृहीत बाह्यप्रत्यक्ष–रूपी मानसवृत्ति के गर्भीभूत होकर कालाकार–ग्रस्त हो जाता है।

बाह्य प्रत्यक्ष में विषय का देशाकार पूर्ण, या कहिये परिनिष्ठित, भाव से प्रतिभात होता है। बाह्य प्रत्यक्ष के मानस प्रत्यक्ष में भी देशाकार की पूर्णता का अपलाप नहीं होता, फिर भी एक क्रियमाणत्व का भान आ समाता है। ऐसा बोध होता है कि आकार मानो क्रमशः चित्रित हो रहा है; पर साथ ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह बोध भी रहता है कि 'आकार पूर्ण है'; इसलिये यह ज्ञान रूप नहीं लेता कि 'यह क्रम कालनिष्ठक्रम है (कि वस्तुकाल में रूप ले रही है)'; लेकिन यह प्रतीति भी नहीं होती कि 'यह क्रम भ्रान्ति है'। यों यह क्रम कालाकार तो होता है, पर कालापिपात की अपेक्षा नहीं करता। कहा जा सकता है कि 'क्रमात्मक क्रियमाण आकार ही पूर्ण देशाकार का कालाकार है'। मानस प्रत्यक्ष का मुख्य विषय बाह्य प्रत्यक्ष है, और कालाकार बाह्य–विषय उसका गौण विषय है। बाह्य–विषय का कालाकार उस विषय के पूर्ण देशाकार का ही क्रियमाण रूप होता है। मानस प्रत्यक्ष में ज्ञान यह होता है कि 'देशाकार का क्रियमाण रूप उसके पूर्ण रूप में गर्भीभूत है'। स्मृति को भी बाह्य विषय का मानस प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, पर इस प्रत्यक्ष का मुख्य विषय बाह्य प्रत्यक्ष नहीं होता। हां, मुख्य *विषय* तो यहां भी बाह्य विषय ही होता है, पर उसका बोध होते हुए भी वह गौण ही रहता है, उसका *ज्ञान* नहीं होता। जिस स्मृति में बाह्य प्रत्यक्ष का *ज्ञान* रहता है, वह स्मृति मात्र नहीं होती, बुद्धि–स्मृति होती है। स्मृति मात्र का जो बाह्य विषय उसका मुख्य विषय होता है, स्मृति में उस बाह्य विषय के देशाकार का पूर्ण और क्रियमाण, दोनों रूप प्रतिभात होता है। पर यहां क्रियमाण रूप ही प्रधान होता है, पूर्ण रूप का बस एक गौण–सा बोध रहता है। स्मृति को भी हम अगर मानस प्रत्यक्ष कहना चाहें तो मानना होगा कि अन्तरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रिय की तरह स्मृति केवल वर्तमान विषय का ही नहीं, अ–वर्तमान विषय का भी ग्रहण करती है।

अगर बाह्य प्रत्यक्ष का विषय उक्त रीति से मानसप्रत्यक्ष का विषय न बने तो उसका प्रकार–ज्ञान नहीं होगा। हम कह चुके हैं कि गृहीत विषय का अरूप सम्बन्ध ही प्रकार होता है। सम्बन्ध एक अभिव्यक्ति–हीन बुद्धिनिष्ठ–जाति है, पर गृहीत विषय के अध्यवसाय में इस अरूप जाति का ज्ञान गृहीत–विषय–निष्ठ रूप में होता है। कहा जा सकता है कि हमारे अध्यवसाय का रूप यह होता है कि 'इस गृहीत विषय का यह सम्बन्ध है'। यहां 'इस विषय' शब्द का अर्थ है, 'इस देशाकार से विशेषित विषय–व्यक्ति', और 'यह सम्बन्ध' का अर्थ है, 'इस जाति का सम्बन्ध'। किस देशाकार व्यक्ति में कौन सी व्यक्ति–हीन सम्बन्ध–जाति है, यह ज्ञान ही मूल अध्यवसाय होता है। जो विषय–जाति बुद्धिगत जाति से भिन्न होती है उसे 'अनेक व्यक्तियों के साधारण धर्म द्वारा घटित' कहा जा सकता है। 'यह विषय–जाति इस विषय में है', हमें ऐसा अध्यवसाय होता है; इस अध्यवसाय में हम प्रत्यक्ष–व्यक्ति में ही यह प्रत्यक्ष करते हैं कि 'जाति विषय–धर्म द्वारा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

घटित हैं', इसीलिये हममें यह प्रतीति बनी रहती है कि जाति की व्यक्ति–निष्ठता का बोध मानो सहज–स्वाभाविक है। तो, यह स्वीकार किया जा सकता है कि विषय–व्यक्ति के प्रत्यक्ष में विषय–जाति का अविभक्त–रूपेण प्रत्यक्ष होता है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि सम्बन्ध–रूपी जाति ऐसे विषय–धर्म द्वारा घटित होती है जो कि प्रत्यक्ष–योग्य होता है। और तभी सम्बन्ध–जाति की प्रत्यक्ष–निष्ठता के ज्ञान को भी प्रत्यक्ष–ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतएव, यहां इस बात पर विशेष विचार आवश्यक है कि सम्बन्ध का जो देशाकार–व्यक्ति–निष्ठता–ज्ञान रूपी मूल अध्यवसाय होता है, उसमें निष्ठता–ज्ञान क्या है?

'इस विषय का यह सम्बन्ध है', ऐसा ज्ञान हो, इसके लिये आवश्यक है कि विषय में सम्बन्ध के अनुरूप किसी धर्म–विशेष का बोध हो। पर हम यह कह चुके हैं कि वह साधारण धर्म जो अनेक व्यक्तियों में साधारण होता है और विषय–जाति का घटक होता है, वह सम्बन्ध–रूपी जाति का घटक नहीं होता। अतएव, यह मानना होगा कि जिस धर्म–विशेष की हम बात कर रहे हैं उसे ऐसा होना चाहिये कि वह केलव सम्बन्ध के अनुरूप प्रतीत हो। 'आनुरूप्य' से तात्पर्य है, 'सादृश्य–विशेष'। दो प्रत्यक्षयोग्य विषयों में सादृश्य का होना प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष–योग्य पदार्थ के साथ अगर सादृश्य का कोई बोध रहे तो ऐसे सादृश्य को 'आनुरूप्य' कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष पदार्थ का कल्पित पदार्थ से भी सादृश्य बोध होता है। कल्पित पदार्थ प्रत्यक्ष के योग्य भी हो सकता है, और प्रत्यक्ष के अयोग्य भी। दो प्रत्यक्ष–योग्य कल्पित पदार्थों में कहीं स्थलविशेष में यह बोध होता है कि दूसरे में पहले की अपेक्षा से किसी धर्म का आतिशय्य है। इसी तरह दूसरे की अपेक्षा से तीसरे में, तीसरे की अपेक्षा से चौथे में, इत्यादि......यह अतिशय बोध रह सकता है; इससे यह कल्पना जन्मती है कि किसी पदार्थ में उस धर्म का निरतिशयत्व या काष्ठा भी हो सकती है। ऐसा पदार्थ प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हो सकता, फिर भी उसे आकारहीन नहीं कहा जा सकता। हां, उसका आकार पूर्ण नहीं होता, न पूर्णाकार–निष्ठ क्रियमाण आकार होता है, बस क्रियमाण आकार मात्र होता है। मानसप्रत्यक्ष–गोचर बाह्य–विषय का देशाकार जिस कालाकार रूप में प्रतिभात होता है, वही पूर्णाकार–निष्ठ क्रियमाण आकार होता है। अगर हम यह स्वीकार करें कि काष्ठा का बोध क्रियमाण–आकार–मात्र–विशिष्ट होता है, तो प्रत्यक्ष–योग्य पदार्थ की काष्ठा के साथ सादृश्य को 'आनुरूप्य' का नाम दे सकते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह सही है कि सम्बन्ध आकार–हीन होता है, पर अध्यवसाय में उसकी प्रतीति साकार–विषय–निष्ठ रूप में होती है। यह प्रतीति प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती–ऐसा हम कह चुके हैं। यह प्रतीति एक ऐसी कल्पना होती है जो विषयाकार की आकार–काष्ठा के साथ आनुरूप्य रखती है। सम्बन्ध के विषय–निष्ठ होने के ज्ञान में सम्बन्ध आकार–काष्ठा के रूप में कल्पित होता है। आकार जिस अर्थ में विषय–निष्ठ होता है, सम्बन्ध उस अर्थ में विषय–निष्ठ नहीं होता। विषयाकार ही आकार होता है, पर शून्य आकार की प्रतीति अ–विषय की प्रतीति नहीं होती, वह अ–निर्दिष्ट विषय की प्रतीति होती है। विषय–निष्ठता आकार का नियत धर्म है। पर ऐसा कोई नियम नहीं कि सम्बन्ध विषय का ही सम्बन्ध हो। हम पहले कह भी चुके हैं कि आत्मा, जो कि अविषय है, उसके बारे में स्वाधीन–कारणता आदि सम्बन्धों की कल्पना होती है, और कल्पना–जन्य निश्चय भी रूप लेता है। तो, विषय–निष्ठता को सम्बन्ध का नियत धर्म नहीं कहा जा सकता है। हम यह भी कह चुके हैं कि सम्बन्ध जाति मात्र है, सम्बन्ध–*व्यक्ति* जैसा कोई पदार्थ नहीं होता। 'कादाचित्क धर्म', यह व्यक्ति का ही धर्म हो सकता है। इसलिये विषय–निष्ठता को सम्बन्ध का कादाचित्क धर्म भी नहीं कहा जा सकता। सम्बन्ध की विषय–निष्ठता को भाक्त (लाक्षणिक, औपचारिक) धर्म ही मानना पड़ेगा। विषय का सम्बन्ध तो वास्तव होता है, पर सम्बन्ध का विषय–*निष्ठ* सम्बन्ध होना, यह वास्तव नहीं होता। हम यह तो कह सकते हैं कि 'यह विषय यों सम्बद्ध है', पर यह कहना कि 'यह सम्बन्ध इस विषय में है, ऐसी प्रतीति को शब्द–विकल्प मात्र ही कहना होगा। इस बात के तात्पर्य को यों रखा जा सकता है: 'यह विषय आकार–काष्ठा के रूप में कल्पित सम्बन्ध के अनुरूप है'। या यह कहा जा सकता है कि 'विषयाकार का निराकार सम्बन्ध आकार–काष्ठा के रूप में कल्पित हो रहा है'। इस काष्ठा–कल्पना को ही हमने पहले रूपारूप–कल्पना या सूत्राकार कल्पना कहा था।

संबंध ऐसा परिनिष्ठित पदार्थ है जो बुद्धि–कल्प्य है। आकार–काष्ठा के माध्यम से उसका विषय में प्रकाश होता है। पर आकार–काष्ठा परिनिष्ठित पदार्थ नहीं है, वह केवल–क्रियमाण पदार्थ है। उसे एक प्रकार का क्रियमाण आकार भी कहा जा सकता है, पर इस सन्दर्भ में उसे 'क्रियमाण आकार–समूह की धारा' कहना उचित है। अन्तरिन्द्रिय द्वारा गृहीत बाह्य–विषय में जो पूर्णदेशाकार–निष्ठ क्रियमाण आकार रहता है वह इस अनादि आकार–धारा का अंतिम आकार होता है और इस धारा से संगत प्रत्यक्ष आकार होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह आकार–धारा यथेच्छ कल्पना नहीं होती, बुद्धि–कल्प्य सम्बन्ध इस धारा का स्थिर नियम होता है। क्रियमाण आकार–धारा ऐसी कल्पना है जो निराकार सम्बन्ध की प्रकाशक भी होती है और सम्बन्ध द्वारा नियन्त्रित भी रहती है। बाह्येन्द्रिय विषय में हम जब पूर्ण देशाकार की कल्पना करते हैं तो अन्तरिन्द्रिय उस आकार की क्रियमाण, या कालाकार, कल्पना करती है। और फिर इस कालाकार की बुद्धि द्वारा संनियन्त्रित कालाकार–धारा के साथ संगति की कल्पना करती है। बाह्य–विषय का सम्बन्ध–ज्ञान इसी तरह से होता है। पूर्णाकार पर इस सम्बनध की छाया नहीं पड़ती, आकार–धारा के नियम के साथ संगत विषय–प्रकार पूर्णाकार के विशिष्ट रूप में साक्षात् प्रतिभात नहीं होता; विषय के प्रत्यक्ष–धर्म के माध्यम से विषय में सम्बन्ध–विशेष का ज्ञान संभावित होता है, पूर्णाकार में उसकी प्रतीति नहीं होती। पूर्णाकार के क्रियमाण रूप में ही केवल–क्रियमाण आकार–काष्ठा का अवभास होता है। यह अवभास ही विषय–प्रकार के नाम से जाना जाता है।

कहा जा सकता है कि अ–प्रकारित कालाकार का ज्ञान नहीं होता। आकारक क्रिया या अंकन क्रिया एक गति–विशेष होती है। अंकन–क्रिया जब हाथ आदि से की जाती है तो गति *विषय–निष्ठ* गति होती है। पर कल्पना द्वारा की गई अंकन–क्रिया जो ज्ञात आकार की घटक होती है, उसकी गति को *इन्द्रिय–निष्ठ* गति कहना होगा। और हम अगर ग्रहण–क्रिया को ज्ञानांग अंकन–क्रिया के रूप में स्वीकार करें तो इस गति को उपचार मात्र नहीं कह सकते। पर जहां आकार–कल्पना तो हो लेकिन ज्ञान न हो, वहां ज्ञाता या इन्द्रिय की गति की बात करना उपचार मात्र होगा। गति–बोध मात्र में दिक्–बोध होता है, पर दिक्–बोध गति–बोध के बिना भी हो सकता है। स्थित देश में भी दिक् का बोध होता है और उसे गति–कल्पना–प्रसूत नहीं कहा जा सकता। देश–बोध काल–बोध–जन्य नहीं होता, काल–बोध द्वारा वह मात्र स्फुटीकृत होता है। बिना दिक् के गति का बोध नहीं होता, अतएव कालाकार अंकनात्मक गति में भी दिक् का स्वीकार करना होगा। देशाकार नाना धाराओं या दिशाओं में अंकित हो सकता है। क—–ख, यह रेखा क से ख की दिशा में या ख से क की दिशा में गति के माध्यम से अंकित होती है। स्थित दैशिक आकार में एक ही काल में परस्पर–विपरीत दिशाओं का बोध होता है, लेकिन गति के बोध में ऐसा नहीं होता, एक ही दिशा का प्रत्यक्ष होता है। साथ ही 'इससे विपरीत कोई दिशा नहीं है,' यह निषेध–बोध भी रहता है; अर्थात् दिक् के प्रत्यक्ष में दिक् के अनन्यत्व का भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बोध होता है। अनन्यत्व का बोध बुद्धि–जन्य ही होता है, वह कहीं भी क्यों न हो। इसलिये कालाकार अंकनगति में होते दिक् के अनन्यत्व–बोध को प्रकार का बोध ही कहना होगा। जिस कालाकार कल्पना में किसी एक दिक् का बोध होता है, पर उसके अनन्यत्व का बोध नहीं होता, अर्थात् कालाकार का प्रकार–बोध नहीं होता, वह कल्पना *ज्ञान* नहीं होती, वह बस 'मानो यह कालाकार है', ऐसी अंभास–प्रतीति मात्र होती है। कालाकार जब ज्ञात होता है तो प्रकारित रूप में ही ज्ञात होता है।

तो, यह कहा जा सकता है कि ऐसा आकार मात्र जो कि *ज्ञात* हो, वह प्रकारित आकार ही होता है। पर आकार का ऐसा भी ज्ञान हो सकता है जो प्रकार–ज्ञान न हो। देशाकार ज्ञान प्रकार–रहित हो सकता है, पर कालाकार ज्ञान प्रकार सहित ही होता है। बाह्येन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय की ग्रहण–क्रियाओं के बीच यह भेद स्वीकार किया जाये तो फिर उनके क्रिया–जनित प्राप्ति–धर्मों में भी भेद स्वीकार करना होगा। इन्द्रिय पर बाहर का अभिघात न पड़े तो वह आकार ग्रहण नहीं करती; अतएव कहा जा सकता है कि उसको जो *प्राप्ति* होती है, वह किसी *आकारक* क्रिया की अपेक्षा नहीं करती। तो, हम पाते हैं कि देशाकार–ज्ञान प्रकार–ज्ञान के बिना भी हो सकता है, अतएव, बाह्येन्द्रिय की प्राप्ति के प्रति प्रकार–क्रिया की कारणता को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह प्राप्ति किसी भी ज्ञान–क्रिया की अपेक्षा नहीं रखती। अतएव, इस प्राप्ति के कारण को नितांत अव्यक्त या अज्ञात ही कहना पड़ेगा। अन्तरिन्द्रिय देशाकार को उपादान के रूप में पा कर ही कालाकार का ग्रहण करती है। अब, कालाकार ज्ञान प्रकार–ज्ञान के बिना नहीं होता, अतएव इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मन को देशाकार की जो उपादान के रूप में प्राप्ति होती है, उस प्राप्ति में बुद्धि की प्रकारक–क्रिया की कारणता विद्यमान रहती है। हमने जो पहले कहा कि बाह्येन्द्रिय पर अव्यक्त वस्तु का अभिघात पड़ता है, और यह कि बुद्धिरूप आत्मा अन्तरिन्द्रिय पर अभिघात करती है, उस कथन को इसी अर्थ में समझना चाहिए।

यह कल्पना की जा सकती है कि आकारकाष्ठा सम्बन्ध और कालाकार के बीच सेतु का काम करती है। सम्बन्ध को बुद्धि–क्रिया द्वारा *गृहीत* नहीं कहा जा सकता, वह तो सम्बन्धरूपी बुद्धि–क्रिया का स्वरूप ही है। उसके विषय–निष्ठ होने का अर्थ विषय को उद्दिष्ट करना है, वैसे ही जैसे किसी वाक्य का सकर्मक क्रिया–पद कर्म–पद को उद्दिष्ट करता है। विषय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को उद्दिष्ट करती जो बुद्धि–क्रिया होती है, अर्थात् सम्बन्ध–बुद्धि की यह आकांक्षा कि वह अन्तरिन्द्रिय–ग्राह्य कालाकार को प्राप्त हो, यही काष्ठा–कल्पना या सूत्राकार कल्पना है। कालाकार क्रियमाण होता है, पर कालाकार–*कल्पना* सरूप–कल्पना है। सूत्राकार–कल्पना रूपारूप–कल्पना है, वह सम्बन्ध बुद्धि की अपेक्षा से सरूप है, और कालाकार की अपेक्षा से अरूप। यह अन्तरिन्द्रिय की क्रिया नहीं है, अन्तरिन्द्रिय की ओर होती बुद्धि की क्रिया है। यों तो सूत्राकार–कल्पना बुद्धि–कल्पना ही है, पर सम्बन्ध–कल्पना की अपेक्षा से उसे कालाकार–कल्पना कहा जा सकता है। पर यह कालाकार बुद्धि–*कल्पित* कालाकार ही होता है, बुद्धि– *गृहीत* नहीं होता। बुद्धि विषय का *ग्रहण* नहीं करती, उसका प्रकाश मात्र करती है। इन्द्रिय विषय का प्रकाश नहीं करती, ग्रहण मात्र करती है। क्रिया उपादान–प्राप्ति की अपेक्षा रखती है। बाह्येन्द्रिय अनाकारित उपादान का देशाकार के रूप में ग्रहण करती है, अन्तरिन्द्रिय, या मन, देशाकार–रूपी उपादान का कालाकार के रूप में ग्रहण करती है। बुद्धि इस कालाकार उपादान को प्राप्त हो कर उसका प्रकारित विषय के रूप में प्रकाश करती है। पर मन द्वारा गृहीत देशाकार–गर्भ कालाकार–विषय बुद्धि–क्रिया के पूर्व निष्प्रकार नहीं रहता, उसमें प्रकार रहता है, पर अविभक्त रूप में रहता है; बुद्धि–क्रिया द्वारा विभक्त हो कर वह अभिव्यक्त, या कहिये, प्रत्यभिज्ञात होता है।

(8) प्रत्यभिज्ञापक क्रिया का ज्ञातताघटकत्व होना– हमें प्रतीति यह होती है कि विषय में जो प्रकाशित हो रहा है वह अप्रकाशित रूप से वहां था। इसे अप्रकाशित भूत–पदार्थ का प्रकाशित होना कहा जा सकता है। 'प्रत्यभिज्ञा' इस अप्रकाशित के प्रकाशित होने के बोध का नाम है। पीछे हमने विषय के प्रकाश मात्र को अतिविषय प्रत्यभिज्ञा कहा था। पर इसे विषय को लक्ष्य कर होती ज्ञान–क्रिया नहीं कहा जा सकता; इसे कृतिरूपी आत्मज्ञान की क्रिया ही कहना होगा। विषयज्ञान–क्रिया बुद्धि का सम्बन्धत्व या प्रकाशत्व है, और यह प्रकाशत्व प्रकाश मात्र का विशेषक है, इसलिये इसे प्रकाशक क्रिया या प्रत्यभिज्ञापक क्रिया कहा जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा विषय के *प्रकार* के माध्यम से ही होती है। विषय के अध्यवसाय में विषय का कालाकार भी प्रत्यभिज्ञात होता है। आकार की प्रत्यभिज्ञा इस प्रतीति का रूप लेती है : 'यह इन्द्रिय–गृहीत आकार उसी नियम द्वारा प्रकारित है, जो कि आकार–काष्ठा निष्ठ है'। ऐसी प्रकार–निरपेक्ष आकार–प्रत्यभिज्ञा कभी नहीं होती है कि 'यह आकार *वही* आकार है'। आकार का इस अर्थ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में प्रकाश नहीं होता। आकारक इन्द्रिय केवल ग्राहक होती है, प्रकाश नहीं होती। ऐसी बात कहने का कोई अर्थ नहीं बनता कि 'इन्द्रिय–पर–अभिघात–मात्र रूपेण प्राप्त बाह्य–ग्रहण–क्रिया के अनिर्देश्य उपादान में देशाकार अविभक्त रूप से स्थित रहता है और इन्द्रिय–क्रिया द्वारा प्रकाशित होता है; अथवा यह कहना भी कोई अर्थ नहीं रखता कि 'मानस–ग्रहण क्रिया द्वारा देशाकार रूपेण प्राप्त उपादान में कालाकार अविभक्त रूप से स्थित रहता है और इन्द्रिय–क्रिया द्वारा प्रकाशित होता है;। अतएव, कहना यह होगा कि 'आकारक क्रिया विषयाकार की ही नियत घटक होती है'। पर प्रकाशक क्रिया के बारे में यह नहीं कह सकते कि वह केवल विषय–प्रकार की घटक होती है; उसके बारे में यह भी माना जा सकता है कि वह आभासात्मा के स्वाधीन कर्तृत्व रूपी प्रकार की भी घटक हो सकती है।

हम कह चुके हैं कि ज्ञानक्रिया विषय के आकार–प्रकार की घटक होती है। आकार–घटक क्रिया को 'अंकन' का नाम दिया जा सकता है, और प्रकार–घटक क्रिया को 'आविष्कार' या 'उद्घाटन कहा जा सकता है। कोई भी ज्ञात विषय इन्द्रिय की ग्रहण–क्रिया द्वारा अंकित होता है, और बुद्धि की प्रत्यभिज्ञापक क्रिया द्वारा आविष्कृत होता है। आविष्कार क्रिया को भी हम विषय–घटक क्रिया कह सकते हैं। प्रकार अनाविष्कृत या अविभक्त हो तो भी आकार का बोध और विषयज्ञान, यह होता तो है, पर बोध के वस्तु–बोध होने पर भी बोध ऐसा नहीं होता कि 'यह वस्तु अन्य वस्तु नहीं है;। ज्ञान के स्फुट होने पर ही विषय के बारे में यह निश्चय जागता है कि 'यह वस्तु अन्य वस्तु नहीं है। विषय की तत्–ता या अनन्यत्व का यह बोध विषयगत प्रकाश विशेष का बोध होता है। तो, कहा जा सकता है कि जिस आकारित विषय के ज्ञान में प्रकार–ज्ञान स्फुट नहीं होता उस विषय में केवल प्रकाश रहता है, प्रकाश–*विशेष* नहीं रहता। अतएव, अविष्कार क्रिया को विषय की तत्–ता, या अनन्यत्व, या प्रकाश–विशेष की घटक कहना होगा। प्रकाश अस्फुट रहे तो आकारित विषय की तत्–ता का ज्ञान नहीं होता। लेकिन तो भी हम यह नहीं कह सकते कि विषय की तत्–ता का ज्ञान न हो तो विषय का भी ज्ञान नहीं होता। ग्रहण–क्रिया द्वारा विषय की ज्ञातता मात्र गृहीत होती है, यह ज्ञातता अनन्यत्व–भाव से विशेषित ज्ञातता नहीं होती। हम कह सकते हैं कि 'तत्–ता–प्रकाश–रहित विषय की ज्ञातता का ही नाम 'आकार' है'। पर मात्र ज्ञातता को विषय का प्रकाश नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भूत–पदार्थ की अप्रकाश ज्ञातता या आकार का कोई अर्थ नहीं बनता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(9) देशाकार और कालाकर का पूर्व–परत्व – आकार–ज्ञान में तत्–ता रूपी विशेष का ज्ञान न रहता हो, पर उस ज्ञान में आकार–भेद–रूपी विशेष का ज्ञान तो रहता है। पर एकाधिक आकार के समष्टि–भाव में अथवा समष्टि–आकारगत किसी व्यष्टि–भाव में भिन्न आकार का ज्ञान नहीं होता। समष्टि आकार या व्यष्टि आकार, इनमें से किसी एक का ज्ञान मुख्य हो तो अन्य का ज्ञान गौणभाव से ही रहता है। समष्टि आकार अगर पूर्ण हो तो उसमें व्यष्टि आकार का गौण बोध उस आकार की क्रियमाणता का ही बोध होता है। यही बात विपरीत भाव से भी कही जा सकती है। हम कह सकते हैं कि बाह्य–विषय का क्रियमाण–व्यष्टि–आकार–गर्भित पूर्ण समष्टि आकार ही देशाकार होता है, और पूर्ण व्यष्टि आकार द्वारा क्रियमाण समष्टि आकार ही कालाकार होता है। अन्तरिन्द्रिय–गृहीत बाह्य–विषय में देशाकार और कालाकार का इस रूप में यौगपद्य स्वीकार करना आवश्यक है।

मानस–विषय का ज्ञान बाह्य–विषय के ज्ञान की अपेक्षा रखता है, पर बाह्य–विषय का ज्ञान मानस–विषय के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। बाह्य–विषय बाह्येन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय, इन दोनों द्वारा ग्राह्य होता है, इसलिये बाह्य–विषय के देशाकार और कालाकार, इन दो रूपों का ज्ञान होता है। पर मानस–विषय अन्तरिन्द्रिय–मात्र–ग्राह्य होता है, इसलिये वह कालाकार–मात्र होता है; और यद्यपि बाह्य–विषय देशाकार होता है, बाह्य–प्रत्यक्ष–रूपी *मानस*–विषय देशाकार नहीं होता। अगर बाह्य–विषय का ज्ञान न हो तो बाह्य–प्रत्यक्ष आदि मानस–विषयों का भी ज्ञान नहीं होता– और इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि देशाकार–ज्ञान कालाकार–ज्ञान से पूर्ववर्ती होता है। देशाकार और कालाकर, ये दोनों तो साथ (युगपत्) रहते हैं, लेकिन इन दोनों के *ज्ञान* में यौगपद्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। हां, ठीक है कि बाह्य–विषय के अन्तरिन्द्रिय द्वारा गृहीत कालाकार ज्ञान में देशाकार का ज्ञान विलुप्त नहीं होता, पर इन दोनों ज्ञानों का सहभाव भी नहीं होता। कालाकार ज्ञान देशाकार–ज्ञान–गर्भित ज्ञात होता है, वह देशाकार ज्ञान से पृथक् नहीं होता। और यह भी ठीक है कि देशाकार ज्ञान कालाकार ज्ञान से पहले प्रकट होता है, पर तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि देशाकार–ग्रहण रूपी *ज्ञान–क्रिया* कालाकार–ग्रहण रूपी ज्ञान–क्रिया की पूर्ववर्ती होती है। इन्द्रिय को विषय की प्राप्ति अक्रिय भाव से होती है पर इन्द्रिय विषय का *ग्रहण* सक्रिय भाव से करती है। इन्द्रिय की विषय–*प्राप्ति*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय में किसी विशेष की घटक नहीं होती, पर इन्द्रिय द्वारा विषय का *ग्रहण* विषय के आकार–रूप विशेष का घटक होता है– इसी अर्थ में ग्रहण को 'क्रिया' कहा गया है। आकारज्ञान ही ग्रहण है; अगर ग्रहण आकार का घटक न हो, अर्थात् अगर इन्द्रिय द्वारा ही आकार की साक्षात् प्राप्ति हो जाये तो उस क्रियमाण आकार का, जो कि अनुभव–सिद्ध है, कोई अर्थ नहीं रहता। अन्तरिन्द्रिय के बाह्य–विषय–ज्ञान में जिस विशेष पूर्ण देशाकार की क्रियमाण रूप में –या कहिये कि कालाकार के रूप में–प्रतीति होती है, वह प्रतीति इस बात का साक्षात् अनुभव है कि ग्रहण–क्रिया द्वारा देशाकार रचित, या अंकित, होता है। क्रिया का अनुभव ही क्रिया का अस्तित्व होता है। अन्तरिन्द्रिय जब बाह्य–प्रत्यक्ष का *ग्रहण* करती है तभी वह बाह्य–विषय का ग्रहण कर पाती है। पर यहां एक बात का ध्यान रखना होगाः यह ठीक है कि बाह्य–विषय अगर बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्रहीत न हो तो अन्तरिन्द्रिय द्वारा भी गृहीत नहीं होता, पर अन्तरिन्द्रिय द्वारा बाह्य–*प्रत्यक्ष* रूपी *मानस*–विषय के ग्रहण का अर्थ हैः मानस–विषय के भीतर पूर्व कालाकार का *रचित* होना; और अन्तिरिन्द्रिय द्वारा बाह्य–*विषय* के ग्रहण का अर्थ हैः बाह्य–विषय के भीतर *क्रियमाण* देशाकार का रचित होना। पूर्ण कालाकार, क्रियमाण देशाकार से *पहले* रचित होता है। अतएव, देशाकार और कालाकार का यौगपद्य, देशाकार का पूर्वत्व, और कालाकार का पूर्वत्व, इन तीनों बातों का स्वीकार अलग अलग अर्थ में होता है।

(10) ज्ञान–क्रिया के ज्ञातता–घटकत्व का अनुभव सिद्ध होना – बाह्येन्द्रिय जिस देशाकार की रचना करती है, उस रचना को *जाना* अन्तरिन्द्रिय द्वारा जाता है। अन्तरिन्द्रिय जो कालाकार रूप रचना करती है वह उसी रूप में बुद्धिगम्य होती है। अन्तरिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य कियमाण बाह्य–आकार ही इस बात का प्रमाण है कि बाह्येन्द्रिय देशाकार की रचना करती है (उसमें देशाकार–रचकत्व होता है)। इसी तरह उस क्रियमाण मानस–आकार को जो कि बुद्धि–प्रकाश्य होता है, इस बात का प्रमाण कहा जा सकता है कि अन्तरिन्द्रिय कालाकार की रचना करती है (उसमें कालाकार–रचकत्व होता है)। इस क्रियमाण मानस–आकार को ही हम ऊपर 'केवल–क्रियमाण सूत्राकार' कह आये हैं। पूर्ण–कालाकार या मानस–आकार बुद्धि को उपादान के रूप में प्राप्त होता है और वह उस आकार के सूत्र या नियम के रूप में प्रकट होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमारी विवृति में अब तक यह उभारा गया कि यह अनुभव–सिद्ध है कि ज्ञान–क्रिया ज्ञात–विषय की घटक होती है। बुद्धि–क्रिया आकार की तत्–ता या अनन्यत्व की प्रकाशक के रूप में घटक होती है, अन्तरिन्द्रिय–क्रिया बाह्याकार के कालाकारत्व की रचक के रूप में घटक होती है, और बाह्येन्द्रिय–क्रिया देशाकार की रचक के रूप में घटक होती है। कहा जा सकता है इन तीनों का निश्चय बुद्धि के अनुभव से होता है। बुद्धि भी इन्द्रिय की तरह ही अक्रियभाव से विषय को प्राप्त करती है और सक्रियभाव से उसकी घटक होती है। इन्द्रिय की तरह बुद्धि भी अक्रियभाव से विषय को प्राप्त कर सक्रियभाव से विषय की घटक होती है। यह बुद्धि अपने क्रियाफल का, अपने भीतर गर्भीभूत मन के क्रियाफल का, और मन के भीतर गर्भीभूत बाह्येन्द्रिय के क्रियाफल का अनुभव करती है। ज्ञान–क्रिया द्वारा उपादान के रूप में विषय–प्राप्ति की जो अपेक्षा रहती है, उसे विषय का *अनुभव* नहीं कहा जा सकता। 'अनुभव' शब्द का प्रयोग उसी *प्राप्ति* के बारे में किया जा सकता है, जिस प्राप्ति के बाद ज्ञान–क्रिया के लिये अवकाश हीं नहीं रहता। यह कहा जा सकता है कि अन्तरिन्द्रिय बाह्येन्द्रिय–प्राप्त अनाकारित उपादान को प्राप्त करती है, पर वह उस उपादान को आकारित नहीं करती; अन्तरिन्द्रिय की क्रिया देशाकार रूपी उपादान को कालाकार के रूप में घटित करना है। अनाकारित क्रिया के प्रति मन की कोई क्रिया नहीं होती, इसलिये मन द्वारा इस उपादान की प्राप्ति को एक प्रकार का 'अनुभव' कहा जा सकता है। इसी तरह, यह भी कहा जा सकता है कि मन की तरह ही बुद्धि भी देशाकार विषय को उपादान के रूप में प्राप्त करती है, पर बुद्धि की प्रकारक क्रिया उस उपादान के प्रति सक्रिय नहीं होती, इसलिये बुद्धि के द्वारा देशाकार की उपादान के रूप में प्राप्ति को बुद्धि का एक प्रकार का 'अनुभव' ही कहना चाहिए। पर इन दोनों स्थलों में उपादान–प्राप्ति के बाद अन्य उपादान के प्रति क्रिया का अवकाश रहता है। यथार्थ अनुभव वह प्राप्ति होती है जब कि निष्क्रिय अतिविषय–प्रत्यभिज्ञा–रूपी बुद्धि प्रकारित कालाकार को प्राप्त करती है। बुद्धि को जो प्रकारित कालाकार का अनुभव होता है उसी अनुभव में देशाकार अनुभूत होता है, और उसी अनुभव में अनाकारित उपादान का भी अनुभव होता है।

यहां प्रश्न उठता है: यह अनुभव ज्ञान है या ज्ञानेतर निश्चय हैं? अनुभव अगर साधारण प्रमाण के विरुद्ध हो तो उसे विषय का ज्ञान नहीं कहा जा सकता; ऐसी अवस्था में उसे 'कृतितन्त्र आत्मज्ञान में गर्भीभूत विषय–ज्ञान'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की छाया' ही कहना होगा। पर अनुमानादि विषय–प्रमाण द्वारा यह नहीं जाना जा सकता कि 'ज्ञात–विषय ज्ञान–क्रिया द्वारा घटित होता है', यह बात अनुभव से ही जानी जा सकती है। हां, विषय–प्रमाण द्वारा यह जाना जा सकता है कि रूप–रस–आदि की ही तरह आकार–प्रकार भी ज्ञान–करण के रूप में निष्क्रिय–भाव से प्राप्त नहीं होते, न हो सकते हैं। और यह जान लेने पर ही यह कहना संभव होता है कि 'आकार–प्रकार का ज्ञान–क्रिया–घटित होने का अनुभव साधारण प्रमाण के विरुद्ध नहीं होता', और फिर उस अनुभव को ज्ञान के रूप में स्वीकार करना सहज हो जाता है।

(11) अनुभव का प्रामाण्य–विचार – (क) आकारक क्रिया के सम्बन्ध में – अगर यह प्रमाणित किया जा सके कि आकार रूप–रस आदि की तरह केवल इन्द्रिय द्वारा प्राप्त नहीं होता, तो फिर आकाराश्रय प्रकार के बारे में भी उसी तरह का प्रमाण दिया जा सकता है। इसीलिये कांट ने आकार के सम्बन्ध में ही अपनी ज्ञानपरीक्षा के प्रथम भाग में वैसे प्रमाण की अवतारणा की है। उन्होंने देशाकार और कालाकार, दोनों के सम्बन्ध में एक ही प्रमाण–पद्धति का अवलंबन किया है। विषय के प्रत्यक्ष में उसके स्थान और आधेयत्व का भी प्रत्यक्ष होता है। जब किसी एक बाह्यविषय का प्रत्यक्ष होता है तो उससे सन्निविष्ट अन्य बाह्यविषयों का भी प्रत्यक्ष होता है। एक विषय कां स्थान–प्रत्यक्ष हो तो साथ ही अपर विषय का भी स्थान–प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् किसी भी स्थान– प्रत्यक्ष में एकाधिक विषय का स्थान–प्रत्यक्ष होता है। किसी भी विषय के ऐसे प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष के आधाररूप में स्थित अन्यविषय का या विषय–भाव से आभासित शून्यदेश का साक्षात् प्रत्यय होता है। शून्यदेश का प्रत्यय उस शून्य में स्थित आधानयोगय पर अनिर्दिष्ट विषय का ही प्रत्यय होता है। विषय जब गृहीत होता है तो गृहीत या ग्रहणयोग्य विषयान्तर के साथ सन्निवेशसम्पर्क या आधेयतासम्पर्क में अवस्थित रह कर ही गृहीत होता है। किसी भी विषय में जिस दैशिकधर्म का प्रत्यक्ष होता है, अन्य विषयों का प्रत्यक्ष उसी दैशिकधर्म के साथ होता है; पर विषय के रूप–रस आदि के प्रत्यक्ष में ऐसा नहीं होता, वहां अन्य विषय में *उसी* रूप–रस आदि धर्म का प्रत्यक्ष नहीं होता।

दैशिकधर्मावन्छिन्न विषयता अपनी ही अपेक्षा रखती है, पर रूपादि–अवच्छिन्न विषयता के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस अर्थ में देश को स्वावपेक्ष पदार्थ कहा जा सकता है। देश–प्रत्यय की इस स्वावपेक्षता के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधार पर यह भी प्रमाणित होता है कि देश की प्राप्ति बहिरिन्द्रिय के आघात की अपेक्षा नहीं रखती। अभिघात–प्रत्यय अभिघात–प्रत्यय की अपेक्षा नहीं करता, पर देश–प्रत्यय देश–प्रत्यय की अपेक्षा करता है।

किसी भी देशाकार के प्रत्यक्ष में उसकी सीमा या अवधि का भी प्रत्यक्ष होता है। और अवधि के प्रत्यक्ष में अवधि–बहिर्भूत देश का भी प्रत्यक्ष होता है। पर इस बहिर्भूत देश की किसी अवधि का प्रत्यक्ष नहीं होता, पर यह प्रत्यक्ष भी नहीं होता कि 'यह अवधि–हीन है'। देशाकार अज्ञात–अवधिक देश के अंश के रूप में प्रतिभात होता है। किसी ससीम या ज्ञातावधिक देश के प्रत्यक्ष में उस देश के भीतर अंश–भाव से अवस्थित क्षुद्रतर देश का भी प्रत्यक्ष होता है। और अगर अंशाी की अवधि और उसके किसी अंश के बीच अंतराल का प्रत्यक्ष हो तो अंशी–अन्तर्भुक्त उस अंश पर व्यापक अन्य अंश का भी प्रत्यक्ष होता है। इस रूप से अंशी और अंश की अवधि–द्वय के बीच अंसख्य अंशावधियों का प्रत्यक्ष हो सकता है। अतः स्वीकार करना होगा कि इस अवधि–द्वय के बीच अन्य अवधि ही रहती है, अपरिच्छेद्य अन्तराल नहीं रहता। हमें ससीम देशाकार के भीतर जैसी निरन्तर देशाकार–सन्तति का प्रत्यय होता है, उस देशाकार के बाहर भी वैसी ही क्रम–प्रवृद्ध देशाकार–सन्तति का प्रत्यय होता है। पर ह्रास और वृद्धि दोनों की ही निरन्तर क्रम में प्रतीति होने पर भी दोनों के भेद का भी प्रत्यय रहता है। प्रत्यय यह होता है कि ह्रासमुखी अंतःसन्तति सान्त है, अर्थात् उसका अंत हो रहा है, पर वृद्धिमुखी बहिःसन्तति अनन्त है, उसका कहीं अंत नहीं हो रहा। कहा जा सकता है कि यह प्रत्यय देशाकार के ससीमत्व–प्रत्यक्ष के अन्तर्भूत है। ससीम देश का प्रत्यय अन्तःसन्तति के समष्टि–रूप में होता है, और यही कारण है कि यह सन्तति दैशिक–प्रत्यक्ष का विषय होती है। पर बहिःसमष्टि अनंत अथवा असमस्त होती है, इसलिये उसे दैशिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं कहा जा सकता। देशाकार की अंतःसन्तति का नाम है देश–परिमाण। देश में हमें जो अवधि और परिमाण का प्रत्यय होता है, वही देश–प्रत्यय को जाति–प्रत्यय से व्यावृत्त करता है। जाति के बारे में यह तो कहा जा सकता है कि 'जाति की अवधि होती है', पर इस अवधि का प्रत्यय अन्य अज्ञात–अवधिक जाति के अंश रूप में नहीं होता।

यह ठीक है कि सम्बन्ध प्रत्यक्ष–योग्य पदार्थ नहीं है, पर विषय–प्रत्यक्ष में जो देश का प्रत्यक्ष होता है वह सम्बन्ध के रूप में ही प्रतिभात होता है, रूप–रस आदि की तरह विषय के गुण के रूप में प्रतिभात नहीं होता। हमें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देश का जो प्रत्यक्ष होता है, उसके बारे हमें यह लगता है कि वह मानो विषयगत सम्बन्ध और स्वगत सम्बन्ध, इन दो रूपों में सामने आता है। विषयगत प्रत्यक्ष सम्बन्ध के दो प्रकार हैं : सन्निवेश और आधेयता। विषय–प्रत्यक्ष के होते ही यह प्रत्यय जागता है कि 'विशेष विषयान्तर के सम्पर्क में सन्निविष्ट है', और यह प्रत्यय भी कि 'विषय शून्यदेश रूपी आधार में स्थित या अन्तर्निविष्ट है'। शून्य देश का प्रत्यय उसमें आधान–योग्य पर अनिर्देश्य विषय का ही प्रत्यय होता है। देश का स्वगत–सम्बन्ध भी दो प्रकार का होता है: अवधि–रूप और समष्टि–रूप। देशाकार का प्रत्यक्ष होते ही उसकी सीमा या अवधि का प्रत्यक्ष होता है। अवधि का 'देशाकार का बहिर्भूत देश के साथ सम्बन्ध', कहा जा सकता है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि ससीम देश का प्रत्यक्ष होते ही उसका अंश–समष्टि के रूप में भी प्रत्यय होता है। दैशिक परिमाण अंशाशि–सम्बन्ध या समष्टि–सम्बन्ध ही होता है। विषय सम्बन्ध इस अवधि या परिणाम–सम्बन्ध से भिन्न होता है : विषय–सम्बन्ध विषयगत देश से सम्बन्ध नहीं भी हो सकता है। विषय अगर दैशिक रूप से एक एवं पूर्ण भी हो तो भी यह सम्भव है कि अदैशिक रूप से वह अनेक और अपूर्ण हो। इसीलिये अवधि और समष्टि इन दो सम्बन्धों को देश का *स्वगत* सम्बन्ध कहा गया है।

रूप–रस आदि की इन्द्रिय द्वारा प्राप्ति होने पर इस प्राप्ति के द्वारा देशाकार की रचना होती है, साथ ही इन रूप–रस आदि देशाकार विषयों का गुण के रूप में प्रत्यक्ष होता है। रूप आदि का प्रत्यक्ष विषय के रूप में तो होता है, पर उनकी प्रतीति इस रूप में नहीं होती कि 'उनका विषय से *सम्बन्ध* है' या 'उनका देश से *सम्बन्ध* है; इसीलिये उनको इन्द्रिय–*प्राप्त* कहा जाता है। और इसीलिये देश को इन्द्रिय–*प्राप्त* नहीं कहा जा सकता। सम्बन्ध की प्रतीति प्रत्यक्ष ही होती है, पर वह इन्द्रिय द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती। सम्बन्ध अनेक–वृत्ति पदार्थ है, पर अभिघात मात्र की अनुभूति से प्राप्त पदार्थ में यह प्रत्यय नहीं होता कि 'यह अनेक–वृत्ति है'। अनेक के एक–प्राप्ति–गत होने का प्रत्यय नहीं होता; उसका प्रत्यय अगर एक–काल–प्राप्त हो तो भी यह निश्चय नहीं हो पाता कि यह एक–प्रत्यय है या अनेक–प्रत्यय; यह निश्चय अनुव्यवसाय में भी नहीं हो पाता।

देश की सम्बन्धाकारत्वप्रतीति की चर्चा और विस्तार चाहती है। प्रत्यक्ष–विषय का विषयान्तर के साथ सन्निवेश–सम्बन्ध नियत होता है। इस सम्बन्ध का प्रत्यक्ष 'विषय–द्वय व्यापक होते हुए एकदेश रूप' होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतएव देश को यहां विषय से अभिन्न और विषय का घटक कहा जा सकता है। ऐसे प्रत्यक्ष विषय का शून्यदेशव्याप्यत्व–सम्बन्ध भी नियत होता है। पर आधार रूप देश विषय की आधेयता का घटक होते हुए भी विषय से भिन्न होता है, इसलिए उसे विषय का घटक नहीं कहा जा सकता। यहां यह भी कहना होगा कि विषय का नियत आधेयता–सम्बन्ध भी विषय का घटक नहीं होता। हमारा प्रत्यक्ष यह होता है कि *विषय* के घटक और अघटक उभय रूप से देश विषय के *सम्बन्ध* का नियत घटक है। पर रूप–रस आदि के बारे में यह प्रत्यय नहीं होता कि किसी भी रूप में विषय के नियत घटक हैं।

हमें यह प्रत्यय होता है कि देशाकार का स्वगत सम्बन्ध भी नियत है। विषयों के रूप आदि गुणों के बारे में एक इस प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है कि 'ये गुण अवधि और परिमाण के घटक हैं'। पर इसकी सम्बन्ध के रूप में प्रतिभाति नहीं होती। यह ठीक है कि हमें रूप आदि की इयत्ता का प्रत्यक्ष होता है, पर दैशिक इयत्ता की तरह इसका प्रत्यक्ष *सम्बन्ध–घटित* इयत्ता के रूप में नहीं होता। बस एक बुद्धि–कल्पना मात्र होती है। यह संभव है कि बाह्य–विषय की अवधि और परिमाण प्रत्यक्ष–योग्य न हों, पर होंगे तो दैशिक रूप में ही प्रतीयमान होंगे। बाह्य–विषय की अवधि का प्रतियोगी अन्य बाह्य–विषय हो सकता है, पर देश मात्र भी हो सकता है। अगर प्रतियोगी देश मात्र हो तो अवधि का प्रत्यक्ष विषय के सम्बन्ध रूप में नहीं होता, यह प्रत्यक्ष ऐसे आकार–धर्म के रूप में होता है जो तत्–विषयमात्र–वृत्ति हो। देशाकार की अवधि का प्रत्यक्ष बहिर्देश के साथ सम्बन्ध रूप होता है, और प्रत्यक्ष होने के नाते उस अवधि के साथ देशाकार की निरन्तरता का भी प्रत्यय होता है। दो सन्निविष्ट आकारों के बीच अगर अंतर हो तो चूंकि वह अंतर भी आकार ही होता है, इसलिये इस अंतर–स्थित आकार के मध्य जो अवधि होती है वह अंतर–स्वरूप नहीं होती। यह कहा जा सकता है कि आकार की अवधि के साथ निरन्तर आकार का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार, यह स्वीकार करना होगा कि देश एक सम्बन्धात्मक पदार्थ होते हुए भी निरन्तर है।

दैशिक परिमाण में भी एक तरह की निरन्तरता का प्रत्यक्ष होता है। अंशी देश का परिमाण अंश देश के परिमाण द्वारा घटित होता है। प्रत्यक्ष यह होता है कि एक अंश–देश मानों बर्धित हो कर अंशी–देश हो जाता है। यह वृद्धि कालिक नहीं होती, क्योंकि प्रत्यक्ष जब देश का होता है तभी देश के वृद्धियुक्त होने का बोध होता है, अर्थात् उस देश का प्रत्यक्ष बृहत्तर देश के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंश रूप में होता है। पर कालिक वृद्धि की तरह यह वृद्धि भी क्रमात्मक होती है। अगर अंश परिमाण और अंशी–परिमाण के भेद का प्रत्यक्ष हो तो यह प्रत्यक्ष परिमाण के रूप में ही होता है। यह परिमाण भी क्रमवृद्धि–घटित देश होता है। इस देश का प्रत्यक्ष अंश और अंशी के बीच अन्तर के रूप में होता है; फलतः अंश–परिमाण बृहत् से बृहत्तर निरन्तर अंश–धारा के रूप में वर्धित होता हुआ प्रकृत अंशी के परिमाण में पर्यवसित हुआ, यह प्रतिभात होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षभूत अंशी देश में हमें एक निरन्तर ह्रास–क्रम के साथ क्षुद्र से क्षुद्रतर होते क्रम में असंख्य अंशी–सन्ततियों का प्रत्यय होता है। प्रत्यक्षभूत अंशी देश में वृद्धि–क्रम से भी अंशी–सन्ततियों का होना सम्भव है। पूर्व सन्तति की अपेक्षा से इसे बहिःसन्तति का नाम दिया जा सकता है। दोनों सन्ततियों के बारे में हम यह कल्पना कर सकते हैं कि ये असंख्य अंशियों की सन्ततियां हैं; पर अन्तः सन्ततियों के क्षेत्र में हम पाते हैं कि अंशी ह्रास को प्राप्त होता हुआ निःशेष हो जाता है, इसलिये इस क्षेत्र में सन्तति का प्रत्यक्ष सान्त–रूप होता है। बहिःसन्तति के अंत का प्रत्यक्ष नहीं होता; उसे अप्रत्यक्ष ही कहना होगा।

अंतःसन्तति ही देश का प्रत्यक्ष परिमाण होती है। अवधि और परिमाण, ये देशगत अंतःसम्बन्ध है। सन्निवेश और आधेयता, ये दैशिक विषयगत प्रत्यक्ष सम्बन्ध हैं। प्रत्यक्ष सम्बन्ध मात्र ही देशाकार को रूप आदि से व्यावृत्त करता है। देश को विषय–सम्बन्ध का घटक, और स्वगत सम्बन्ध द्वारा घटित कहा जा सकता है। विषय के दैशिक सम्बन्ध को देश–घटक सम्बन्ध तो नहीं कहा जा सकता, पर देश–घटक सम्बन्ध को विषय के दैशिक सम्बन्ध का घटक कहा जा सकता है। अवधि और परिमाण सम्बन्ध देश के साक्षात् घटक सम्बन्ध हैं, ऐसा हमें प्रत्यक्ष होता है; विषय के सन्निवेश और आधेयता रूप दैशिक सम्बन्धों का घटक के रूप में प्रत्यक्ष परम्परा–सूत्र से होता है। रूप आदि विषयधर्म विषय के दैशिक सम्बन्ध के घटक नहीं हैं, और उस सम्बन्ध द्वारा घटित भी नहीं होते। देशाकार–स्वरूप विषयधर्म घटक तो है ही, पर घटित भी है। रूप आदि को रूपादिमत् विषय की तरह देश–घटक अवधि और परिमाण के द्वारा परम्परा सूत्र से घटित तो कहा जा सकता है, लेकिन इन्हें देश का या विषय का घटक नहीं कहा जा सकता। देश–घटित या देश–घटक सम्बन्ध प्रत्यक्ष सम्बन्ध हैं। सन्निवेश और आधेयता सम्बन्ध देश–घटित हैं, इसलिये यह कहा जा सकता है कि देश रूपादिक–युक्त विषय में नियत–निष्ठ होता है। नियत–निष्ठ होने के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण सन्निवेश और आधेयता सम्बन्ध रूप आदि की तरह इन्द्रिय–प्राप्ति की अपेक्षा नहीं करते। अवधि और परिमाण सम्बन्धों के द्वारा देश घटित होता है, इसलिये इन्हें सम्बन्ध से भिन्न एक प्रकार का विषय ही कहना चाहिए। इनका विषयी भूत देश रूप आदि इन्द्रिय–प्राप्त पदार्थों की अपेक्षा नहीं करता, पर रूपादि–युक्त विषय ऐसे देश की अपेक्षा करते हैं, इसलिये देश को रूपादि–युक्त विषय का नित्य–व्यापक *शुद्धविषय* कहना चाहिये। प्रत्यक्ष–सम्बन्ध के घटक रूप में देश प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, पर प्रत्यक्ष–सम्बन्ध–घटित होने के रूप में वह प्रत्यक्ष का विषय होता है। इसलिये देश को 'विषय में नियत–निष्ठ अविषय' और 'विषय का नियत–व्यापक विषय' कहना उचित है। प्रत्यक्ष आधेयता–सम्बन्ध का घटक देश शून्यदेश होता है। प्रत्यक्ष सन्निवेश–सम्बन्ध का देश भी शून्यदेश हो सकता है, इसलिये विषयाधिकृत देश को भी शून्यदेश की तरह सन्निवेश–घटक कहना होगा। शून्यदेश अप्रत्यक्ष विषय है, पर विषय के प्रत्यक्ष में ही उसकी उपलब्धि होती है, इसलिये उसके बारे में यही कहना होगा कि वह विषय–रूप से कल्पित भर होता है, विषय नहीं होता। अवधि और परिमाण रूप प्रत्यक्ष–सम्बन्ध द्वारा घटित शुद्धदेश भी प्रत्यक्ष का विषय होता है; रूपादि–युक्त विषय के प्रत्यक्ष में ही इस विषय–व्यापक शुद्धदेश का प्रत्यक्ष होता है।

देश का अनुभव यह होता है कि, 'यह ग्रहण–क्रियात्मक है'। विषय के प्रत्यक्ष में अप्रत्यक्ष शून्यदेश की और प्रत्यक्ष विषयगत देश की जो नियत उपलब्ध होती है उससे यह अनुभव अवरूिद्ध या संगत होता है, इसलिये इसे प्रमाण या ज्ञान के रूप में स्वीकार करना उचित है। विषय–प्रत्यक्ष–संगत इस अनुभव में हम यह जान पाते हैं कि सम्बन्ध–घटक शून्यदेश प्राप्ति–निरपेक्ष ग्रहण रूप ज्ञान–क्रिया मात्र होता है, और यह भी कि सम्बन्ध–घटित विषयगत देश भी इसी प्रकार की क्रिया द्वारा घटित विषय होता है। देश ऐसा पदार्थ नहीं है जो बाह्येन्द्रिय पर अभिघात के रूप में प्राप्त होता है, वह ऐसी ज्ञान–क्रिया है जो बाह्येन्द्रिय–प्राप्ति निरपेक्ष है। यह क्रिया–घटित देश विषय तो होता है, पर क्रिया उससे अभिन्न होती है। अतएव, ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि 'देश का कारण कोई अव्यक्त *विषय–वस्तु* है', अपितु इन्द्रिय–रूपी आत्मा को ही देश का कारण कहना होगा। सच यह है कि देश आत्मा की क्रिया तो है ही, क्रिया–घटित फल भी है। रूप आदि विषयधर्म देशाकारित हैं, इसलिये ये आत्मक्रिया की अपेक्षा तो करते ही हैं,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर ये इन्द्रिय–*प्राप्त* भी हैं, इसलिये किसी अव्यक्त कारण की भी अपेक्षा करते हैं। अतएव, ऐसा मानना पड़ेगा कि आत्मक्रिया इनसे भिन्न है; ये (विषयधर्म) आत्मक्रिया–*निमित्त* फल हैं, ये देश की तरह क्रिया–*घटित* फल नहीं हैं। देश सम्बन्ध–घटित होता है, इसलिये उसे आत्मक्रिया–घटित कहा जा सकता है। विषय का प्रकार और जाति भी सम्बन्ध–घटित और क्रिया–घटित होते हैं; पर देश–घटक समबन्ध प्रत्यक्ष या साकार होता है, जबकि प्रकार–घटक सम्बन्ध अप्रत्यक्ष या निराकार होता है। इसलिये देश–घटक क्रिया को इन्द्रिय–क्रिया कहना उचित होगा और प्रकार–घटक क्रिया को बुद्धि–क्रिया।

हमने अभी ज्ञात–विषय पर विचार करते हुए देश को रूप आदि से व्यावृत किया। विषय के *ज्ञान* पर विचार करने पर भी यह व्यावृत्ति सिद्ध होती दिखती है। यह अनुभव–सिद्ध है क्रि देश ज्ञान–क्रिया से भिन्न भी है और अभिन्न भी। पर विषय में ऐसे भेदाभेद रूप विरुद्ध सम्बन्ध का स्वीकार नहीं किया जा सकता। भेदाभेद अनुभव के अनुरूप किसी विषयगत भेदाभेद का प्रत्यक्ष नहीं होता। पर विषय के *ज्ञान* में भेदाभेद उभरे तो इसमें कोई विरोध नहीं। रूपादि–युक्त विषय–ज्ञान और उसके गर्भी–भूत देश–रूपी शुद्धविषय–ज्ञान, इन दो ज्ञानों के बीच हम भेदाभेद स्वीकार कर लें तो विषय–ज्ञान के माध्यम से ही देश की रूप आदि से व्यावृत्ति का प्रत्यय हो जाता है।

शून्यदेश को हमने अप्रत्यक्ष कहा। पर विषय–प्रत्यक्ष में शून्यदेश की जो उपलब्धि होती है वह मानों इस रूप में होती है कि 'यह प्रत्यक्ष है'। विषय–व्यापक देश को हमने शून्यदेश की अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा। देश का अवधि और परिमाण रूपी स्वगत सम्बन्ध भी परम्परा–सूत्र से विषय का प्रत्यक्ष–सम्बन्ध ही होता है, इसलिये उसे भी प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। यह सम्बन्ध साक्षात् भाव से विषय–सम्बद्ध नहीं होता, इस बात का प्रमाण यह है : यह सम्बन्ध विषयगत रूप आदि द्वारा घटित नहीं होता, रूप आदि के भिन्न होने पर इस सम्बन्ध में भेद नहीं आता। पर यह प्रश्न उठता है : क्या यह सम्बन्ध साक्षात् भाव से देशगत सम्बन्ध है, और यह क्या प्रत्यक्ष द्वारा जाना जा सकता है या नहीं ? अर्थात्, क्या विषय के प्रत्यक्ष में ही विषय–व्यापक देशमात्र का भी प्रत्यक्ष होता है या नहीं ? हम व्यापकता के प्रत्यक्ष में व्याप्त के प्रत्यक्ष को स्वीकार कर भी लें, तो भी व्याप्तता के प्रत्यक्ष में व्यापकता के प्रत्यक्ष को तो स्वीकार नहीं किया जा सकता। विषय–व्यापक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देशमात्र के प्रत्यक्ष को बाह्य–प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, उसे मानस–प्रत्यक्ष कहना होगा। हम पहले ही कह चुके हैं कि बाह्य–प्रत्यक्ष के मानस–प्रत्यक्ष हो जाने पर ही बाह्य–विषय का मानस–प्रत्यक्ष होता है। यह मानस–प्रत्यक्ष ही बाह्यता–घटक देशमात्र का प्रत्यक्ष होता है। बाह्य–प्रत्यक्ष में देशमात्र का प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसे प्रत्यक्ष के होने की जो प्रतीति होती है वह मात्र शून्यदेश का भाक्त प्रत्यक्ष होता है। इसलिये अवधि और परिमाण सम्बन्ध को देश से अविभक्त प्रत्यक्ष *कालिक* सम्बन्ध कहना होगा। पर शून्यदेश सम्बन्ध के रूप में आभासित नहीं होता, इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि शून्यदेश का कालिक रूप से प्रत्यक्ष होता है।

जिस प्रकार के युक्ति–निर्देश से देश की ज्ञानक्रियात्मकता का प्रतिपादन किया गया, वैसी ही युक्ति से काल की भी ज्ञानक्रियात्मकता का प्रतिपादन किया जा सकता है। काल भी विषय के सन्निवेश और आधेयता सम्बन्ध का घटक होता है, और अवधि एवं परिमाण सम्बन्ध द्वारा घटित होता है। इस क्षेत्र में प्रसंग प्रत्यक्ष काल–सम्बन्ध का ही होता है। काल–सम्बन्ध का प्रत्यक्ष बाह्य–विषय का ही होता है और देश–सम्बन्ध के साथ परस्परापेक्ष भाव से होता है। यह ठीक है कि मानस–विषय के काल–सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष होता है, पर 'यह प्रत्यक्ष बाह्य–विषयगत काल–सम्बन्ध से पृथक् है', ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता। यह सम्भव है कि बाह्य–विषय में काल–सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तो हो पर यह प्रत्यय न हो कि 'यह मानस–विषय का काल–सम्बन्ध है'। पर मानस–विषय में काल–सम्बन्ध का प्रत्यक्ष हो तो यह प्रत्यय भी होता है कि 'यह बाह्य–विषय के काल–सम्बन्ध से अभिन्न[1] है'। किसी स्फुट मानस–काल–सम्बन्ध में अगर तदनुगत बाह्य–काल–सम्बन्ध का प्रत्यय अस्फुट हो तो यह अनुभव नहीं होता कि 'मानस–काल–सम्बन्ध का यह प्रत्यय कल्पना–मात्र से व्यावृत्त प्रत्यक्ष है'।

बाह्यविषयगत काल–सम्बन्ध के साथ तद्गत देश–सम्बन्ध का प्रत्यक्ष युगपत् होता है। इस प्रत्यक्ष में काल देश के रूप में और देश काल के रूप में उपचरित होता है। बाह्य–विषयगत कालाकार में और देशाकार में आकार के नाते, अर्थात् प्रत्यक्ष–सम्बन्ध के नाते किसी प्रभेद का निर्देश नहीं किया जा सकता। इसीलिये देश और काल की ज्ञानक्रियात्मकता एक ही युक्ति द्वारा प्रमाणित होती है। क्योंकि देशाकार और कालाकार के बीच प्रभेद यहां

1. *यहाँ छपी पुस्तक में शब्द 'अभिज्ञ' है (देखिये पश्चिम बंग राज्य पुस्तक पर्षत प्रांकाशित 'कांटेर दर्शन' पंचम मुद्रण, 2011, पृ. 271)*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनिर्देश्य है, इसलिये कुछ लोग इस आकार को देशाकार–मात्र कहते हैं, और कुछ लोग कालाकार–मात्र। पर यहां सच यह है कि इन दो आकारों का प्रभेद अनिर्देश्य होने पर भी अनुभव–सिद्ध है, दोनों के किसी संवलित एक आकार का कभी अनुभव नहीं होता, शाब्दिक कल्पना या औपचारिक प्रत्यय मात्र होता है। यह ठीक है कि बाह्य–विषयगत काल को देश द्वारा और देश को काल द्वारा परिमापित किया जा सकता है, पर यह परिमापन बुद्धिकृत रूपाकार–कल्पना होती है, इन्द्रिय–कृत सरूप कल्पना नहीं होती, अतएव कहना यही होगा कि ऐसे किसी एक आकार का ज्ञान नहीं होता जो परिमापक और परिमापित आकारों का संवलित आकार हो। आकार को लेकर जैसे यह प्रत्यय होता है कि 'आकार बुद्धि–सम्बन्ध के अनुरूप है;, वैसे ही देशाकार और कालाकार को परस्पर–अनुरूप मात्र कहा जा सकता है, दोनों को एक ही आकार नहीं कहा जा सकता।

अब, क्योंकि ज्ञान–क्रिया भी एक शुद्ध विषय है, इसलिये इन्द्रिय–प्राप्त विषय के साथ उसका भेदाभेद रूपी प्रत्यय होता है। हमने स्वीकार किया है कि धर्म–ज्ञान में हमें यह अनुभव होता है कि 'देश और काल आभास–विषय हैं और इन्द्रिय–प्राप्त साकार विषय आभास–वस्तु है', भेदाभेद प्रत्यय इस अनुभव को दृढ़ करता है।

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर,
अजमेर रोड, जयपुर-302006

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

माज़रत

प्लेटो प्रणीत आपोलॉजी का हिन्दी अनुवाद

अनुवादक

राकेश चन्द्रा एवं प्रशांत शुक्ला

(प्लेटो द्वारा लिखी Apology (या माज़रत) 399 ईसा पूर्व सुकरात द्वारा अदालत में दिये गये वक्तव्य की एक स्वतंत्र प्रस्तुति है। यह एथेंस के प्रजातंत्र का सर्वाधिक अंधेरा पृष्ठ है। भारत के राष्ट्रपिता सुकरात के इस संवाद से अत्यंत प्रभावित हुये। दक्षिण अफ्रीका के कारावास में उन्होंने 1908 में गुजराती भाषा में "सत्य के सिपाही की कहानी" के रूप में Apology का भावानुवाद भी किया। रोचक है कि ग्रीक देवताओं के लिये कहीं उन्होंने उर्दू शब्द "खुदा" का प्रयोग किया और कहीं "खुदाईश्वर"। इस अनुवाद में भी हमने "क्षमा" के स्थान पर "माजरत" शब्द का प्रयोग किया है। यह हमारी सुकरात, प्लेटो एवं महात्मा गांधी तीनों को एक श्रद्धासुमन है।)'

यहाँ प्रस्तुत प्रथम तीन संवाद सुकरात के अन्तिम दिनों व मृत्यु का विवरण है। हमें यह ज्ञात नहीं है कि प्लेटो ने इन संवादों को किस क्रम में लिखा, किन्तु इन्हें पहले की प्रक्रिया स्वरूप वहाँ से आरम्भ करना श्रेयश्कर होगा, जहाँ हमारे प्रमुख चरित्र की मृत्यु को केन्द्र में रखा गया है। मात्र उन्हीं मे सुकरात स्वयं एक विषय के रूप में प्रस्तुत होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी में यद्यपि सुकरात प्रमुख वक्ता के रूप में उपस्थित हैं, तथापि वे स्वयं के बारे में यदा–कदा ही बात करते हैं। अपने अंतिम तीन संवादों में से दो में तो वे निःसंदिग्द्ध रूप से मात्र एक श्रोता के रूप में विद्यमान रहे और अंतिम में तो वे विद्यमान भी नहीं हैं। किन्तु इन प्रथम तीन में वे अपने जीवन व अपनी धारणाओं के संदर्भ में विस्तृत चर्चा करते हैं, जो कि सुधी जन को रुचिकर प्रतीत होंगी।

जब सुकरात को अत्यन्त गम्भीर अभियोगों के आधार पर एथेंस के न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है, तो वे अपनी संरक्षा में अपने सह–नागरिकों के समक्ष स्वयं की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। "सुकरात युवा वर्ग के मनस को भ्रष्ट करने व राज्य के द्वारा मान्यता प्राप्त देवताओं को नकार कर स्वयं के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वारा आविष्कारित देंवताओं में आस्था रखने के दोषी माने जाते हैं।" जैसा कि सर्वज्ञात है कि इस संरक्षा में उन्होंने अपनी जीवनशैली व स्थापित घटनाओं का एक विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

अंततोगत्वा, मृत्युदण्ड की घोषणा के उपरान्त जिन कुछ शब्दों में वे इस दण्ड को स्वीकार करते हैं, वे स्वयंमेव उनके व्यक्तित्व का ऐसा वृहद चित्रण प्रस्तुत करते हैं, जैसा संभवतः कभी कोई दूसरा नहीं हुआ। अनेकानेक महानतम् आध्यात्मिक नेताओं व संतों ने इतिहास के पृष्ठों को सुशोभित किया, परन्तु सुकरात उनमें से किसी के भी समतुल्य नहीं रहे। वे वास्तव में दैवीय सत्ता के ऐसे सेवक बनकर रहे जो जीवनपर्यन्त ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पित रहे। उन्होंने सदैव मानव जगत को किंचित हास्य व कटाक्ष के साथ देखा, तथापि उन्होंने अपने जीवन को प्रत्येक मनुष्य में शुभ की लौ को प्रज्ज्चलित रखने का प्रयास मात्र माना। यद्यपि वे इसमें असफल रहे, किन्तु उन्होंने अंधभक्ति, रूढ़िवादिता व अहंवाद के विरुद्ध जाने का सतत् प्रयास किया। जब भी उन्होंने कठोर वैमनस्य के विरुद्ध स्वयं को स्थापित किया, तब समस्त के प्रति सौहार्द्र से स्वाभाविकतः उत्पन्न पश्चाताप के बावजूद, उनमें किंचित हास्य से लिप्त एक ऐसी संवेदना स्पष्टतः परिलक्षित होती है, जो कि सौहार्द्रजनित सहानुभूति को ही प्रदर्शित करती है। मानो वे स्वयं से ही कह रहे हैं कि, "हम कितनी मूर्ख संताने हैं।" सुकरात वस्तुतः कभी भी दण्डित नहीं हुए। वे क्या थे – इस संदर्भ में दिये गये ये महत्वपूर्ण साक्ष्य सर्वाधिक स्पष्ट रूप से हमें सुकरात की संरक्षा में ही प्राप्त होते हैं:

न्यायसभा के सम्मानित जनों! मुझे नहीं पता कि मेरे आरोपकर्ताओं का आप सभी पर क्या प्रभाव रहा है किन्तु जहाँ तक मेरे स्वयं की बात है तों मैं उनके द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित रहा हूँ – क्योंकि उनके द्वारा प्रदत्त तर्क अत्यन्त विश्वसनीय प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर, उनके द्वारा कहा गया एक भी शब्द सत्य नहीं है। विशेषकर उनकी अनेकानेक आपत्तियों में से एक तो अत्यन्त ही आश्चर्यजनक है; मेरा आशय उनके इस कथन से है जिसमें वे आपको मेरे द्वारा भ्रमित किये जाने से सावधान रहने के लिए आगाह करते हैं – जिसका स्पष्ट अर्थ यह निकलता है कि मैं एक अत्यन्त दक्ष वक्ता हूँ। मेरा यह मानना है कि यह उनकी विशेष लापरवाही है कि वे बिना किसी लज्जा के आपसे ऐसा कहते हैं, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि जल्द ही वे स्वयं ही गलत सिद्ध हो जायेंगे, जबकि यह स्पष्ट हो जाएगा कि मेरे अन्दर दक्ष वक्ता होने का किंचित्र भी कौशल विद्यमान नहीं है – जब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तक कि दक्ष वक्ता से आपका अभिप्राय उस वक्ता से न हो जो कि सदैव ही सत्यभाषण करता है। यदि उनका आशय यही है तो मैं यह सहर्ष स्वीकार कर लूँगा कि मैं एक कुशल वक्ता हूँ, यद्यपि उनके अनुसार ऐसा नहीं है।

इसके उपरान्त, जैसा मेरा मानना है कि मेरे आरोपकर्त्ताओं के कथन में सत्य का पूर्णतः अभाव रहा है किन्तु अब आप सभी मुझ से सम्पूर्ण सत्य सुनेंगे – कदाचित मैं आपको उनकी तरह सुन्दर शब्दों व मुहावरों से सुसज्जित भाषा के प्रयोग के द्वारा आश्वासन नहीं दे सकता। नहीं, जो भी आप मुझसे सुनेंगे वह बिना लाग–लपेट के स्वाभाविक व प्राथमिक विचारों से जनित व्याख्या मात्र होगी। क्योंकि मैं आश्वस्त हूँ कि मेरा पक्ष न्याय का पक्ष है व मैं नहीं चाहता कि इसके अलावा आप मुझसे कोई भी अन्य अपेक्षा रखें। महोदय! यह सर्वथा अनुचित होगा कि मेरी आयु का व्यक्ति एक विद्यालय के प्रवक्ता की कृत्रिम भाषा में आपको सम्बोधित करे। तथापि एक बात अवश्य है जिसके लिए मैं आपसे क्षमा मांगना चाहूँगा। यदि आप मुझे उसी भाषा में स्वयं की संरक्षा करते पायें, जिसे मैं नगर के खुले स्थानों में या फिर अन्यत्र प्रयोग में लाने का अभ्यस्त रहा हूँ, तो न तो आप आश्चर्यचकित हों और न ही मुझे टोकें। यहाँ मैं आपको पुनः अपनी स्थिति का स्मरण कराना चाहूँगा। सत्तर वर्ष की आयु में यह पहला अवसर है जबकि मैं किसी विधिसम्मत न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत हुआ हूँ और इस कारण इस स्थान में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा से मैं पूर्णतः अनभिज्ञ हूँ। अब यदि मैं वास्तव में किसी अन्य राष्ट्र से होता, तो मैं जिस भी शैली में पला–बढ़ा होता, उसी भाषाशैली में अपने विचार प्रस्तुत करता और आप स्वाभाविक रूप से उसके लिए मुझे क्षमा कर देते और मेरे विचार से ऐसी परिस्थिति में मेरी भाषा की शैली पर ध्यान न देना सर्वथा तर्कसंगत भी होता – चाहे यह भले के लिए हो या फिर बुरे के लिए – ओर इस प्रश्न विशेष के संदर्भ में आपको सिर्फ इस ओर ध्यान आकर्षित करना होता कि मेरे दावे उचित हैं अथवा नहीं। यह न्यायपालिका का उसी प्रकार प्राथमिक कर्तव्य है, जिस प्रकार किसी भी याचनाकर्त्ता का यह प्राथमिक कर्तव्य होता है कि वह मात्र सत्य ही बोले।

न्यायसभा के सम्मानित जनों! मेरे लिए सर्वोचित मार्ग यह होगा कि मैं सर्वप्रथम मुझ पर पहले लगाए गये उन अभियोगों पर स्पष्टीकरण दूँ जो कि मुझ पर अनुचित ढंग से थोपे गये हैं और साथ ही मेरे पहले आरोपकर्त्ताओं का परीक्षण करूँ और इसके पश्चात ही अन्य मुद्दों को परखूँ। इस प्रकार का विभेदीकंरण मैं सिर्फ इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि मुझ पर पहले ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनेकानेक महापुरुषों ने अनेक वर्षों तक विभिन्न आरोप लगाये हैं, यद्यपि उनमें रंचमात्र भी सत्य का अंश नहीं है। मैं एनाइटस और उसके सहयोगियों की तुलना में ऐसे लोगों से अधिक भयग्रस्त रहता हूँ, यद्यपि उन पर विजय प्राप्त करना दुष्कर नहीं है। मैं संशयग्रस्त रहता हूँ, यद्यपि वे अजेय नहीं हैं। मेरा आशय उन लोगों से है जिन्होंने आप में से बहुतों को बाल्यावस्था से ही प्रभावित किया है और आपके मस्तिष्क को मेरे विरुद्ध अनेक असत्य अभिलेखों से यह कहते हुए भर रखा है कि सुकरात नामक एक ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति है जिसके पास स्वर्ग से सम्बन्धित सिद्धान्त है और जिसनें पृथ्वी के नीचे की की समस्त वस्तुओं पर अनुसंधान कर रखा है और जो निर्बल तर्कों के द्वारा सबल को भी परास्त करने की क्षमता रखता है।

भद्रजनों! ये वही लोग हैं जो ऐसी अफवाहों को फैला रहे हैं और मेरे सबसे बड़े आरोपकर्ता हैं, क्योंकि जो भी इनको सुनता है वह इस पूर्वाग्रह से ग्रसित हो जाता है कि ऐसे विषयों का अनुसंधान करने वाला अवश्य ही अधर्मी होगा। इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक आरोपकर्त्ता रहे हैं जो कि कई वर्षों से मुझ पर आरोप लगाते रहे हैं और उस पर यह कि उन्होंने आपको सर्वाधिक प्रभावित होने वाली आयु में चुना, जबकि आप में से कुछ बालक अथवा किशोर थे। उन्होंने बाद में विजय इसी कारण प्राप्त की कि मेरे लिए यह जानना और बताना भी असम्भव है कि उनके नाम क्या हैं, जब तक क़ि उनमें से कोई नाटककार न हो। ये सभी लोग जिन्होंने मात्र ईर्ष्या, द्वेष और मिथ्यावादन में लिप्त होने के कारण आपको मेरे विरुद्ध खड़ा किया है और साथ ही कुछ अन्य लोग जिनका कार्य मात्र दूसरों को कही बातों को आगे बढ़ाना है इनसे संवाद स्थापित करना ही अत्यन्त दुष्कर है। ऐसे लोगों को पुनरीक्षण हेतु यहाँ लाना असंभव है; अतः हमें अपनी संरक्षा कुछ इस प्रकार करनी होगी मानो हम किसी अदृश्य प्रतिद्वन्दी के साथ प्रतिवाद कर रहे हैं क्योंकि उत्तर देने हेतु कोई प्रस्तुत तो है ही नहीं। अतः मैं आपसें यह मान लेने का निवेदन करता हूँ कि मेरे आलोचक दो वर्गों में विभाजित हैं – एक तो वे जो मेरे साक्षात् आरोपकर्ता हैं और दूसरे वे पूर्व आलोचक जिनकी मैंने अभी चर्चा की । अतः आपको यह मानना होगा कि मैं सबसे पहले इनमें से दूसरे वर्ग के संदर्भ में अपनी संरक्षा प्रस्तुत करूँगा। आखिर आपने उन्हें मेरे विरुद्ध अपशब्द कहते हुए काफी पहले सुना था तथा वे मेरे वर्तमान आरोपकर्ताओं की तुलना में कहीं अधिक प्रखर और आक्रामक थे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो फिर महोदय! अब मैं अपनी संरक्षा आरम्भ करता हूँ जिसमें मुझे यह प्रयास करना होगा कि इस सीमित अवधि में मैं आप सभी के मस्तिष्क से उन सभी असत्य प्रभावों को दूर कर पाऊँ जो कि अनेकानेक वर्षों से कार्यशील रहे हैं। मेरा यह मानना है कि ऐसा करने में मेरा और आपका – दोनों का ही लाभ होगा और इसलिए मैं चाहूँगा कि मैं अपनी संरक्षा करने में सफल हो पाऊँ । यद्यपि मैं इस कार्य की प्रकृति से पूर्णतः अवगत हूँ और यह भी स्वीकार करता हूँ कि यह अत्यन्त दुष्कर कार्य होगा। तथापि जैसी प्रभु की इच्छा। मुझे तो मात्र विधि का अनुपालन करना चाहिये और अपनी संरक्षा प्रस्तुत करनी चाहिये।

तो चलिये, हम पुनः आरम्भ पर जाएं और देखें कि मुझे अलोकप्रिय बताने वाले ऐसे कौन से आरोप हैं जिनसे उत्साहित होकर मिलेटस ने यह अध्यादेश पारित किया है ? अच्छा मेरे आलोचकों के मेरे चरित्र पर क्या अभियोग हैं? यहाँ पर मुझे उनका शपथपत्र इस प्रकार पढ़ना चाहिए मानो वे मेरे वैधानिक आरोपकर्त्ता हों – "सुकरात आपराधिक हस्तक्षेप का आरोपी है क्योंकि वह पृथ्वी के अन्दर और आकाश में अवस्थित वस्तुओं का अनुसंधान करता है और निर्बल तर्कों द्वारा सबल तर्कों को भी परास्त कर देता है, और दूसरों को अपना अनुसरण करने के लिए प्रेरित करता है।" इसे कुछ इस प्रकार देखा जा सकता है –

आप सभी ने अरिस्टोफिनीज़ के नाटकों को देखा ही होगा जिनमें सुकरात त्वरित गति से यहाँ–वहाँ घूमते हुए यह घोषणा करते चलता है कि वह वायु पर चल रहा है और ऐसी कई अन्य निरर्थक बातें करता है, जिनके संदर्भ में वस्तुतः मुझे स्वयं कोई भी ज्ञान नहीं है। यदि कोई वस्तुतः ऐसे ज्ञान में पारंगत है, तो मैं उसके प्रति किसी भी प्रकार के असम्मान का भाव नहीं रखता – और मैं स्वयं के विरुद्ध मिलेटस के द्वारा अन्य कोई वैधानिक अभियोग नहीं चाहता। वास्तव में महोदय, मुझे इसमें कोई रुचि नहीं है बल्कि मैं आपमें से अधिकांश का अपने कथन के साक्ष्य के रूप में आह्वान करता हूँ और उन सबसे, जिन्होंने मुझे कभी भी सुना है, यह अनुरोध करता हूँ – और बहुतों पर यह लागू भी होता है – कि आप इस बिन्दु पर अपने पड़ोसियों के मनस से भ्रम को हटा दें। मैं चाहता हूँ कि आप एक दूसरे को यह बताएं कि क्या आप में से किसी ने भी कभी भी मुझे संक्षेप या विस्तार में ऐसी चर्चा करतें हुए सुना है? और तब आपको यह अनुभव होगा कि मेरे बारे में दिये गये अन्य लोकप्रिय विवरण भी इतने ही अविश्वसनीय हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तथ्य तो यह है कि इन अभियोगों में कुछ भी सत्य नहीं है और यदि आपने किसी को यह कहते सुना है कि मैं लोगों को शिक्षित करने के लिए शुल्क लेता हूँ तो मै यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि इसमें भी कोई सत्य नहीं है। यद्यपि मैं यह सोचता हूँ कि काश ऐसा होता, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति दूसरों को शिक्षित करने में समर्थ है, जैसा कि लिऑन्तिनी के जॉर्ज़ियस और सियॉस के प्रॉडिकस और इलीस के हिप्पीयस, तो यह एक अच्छी बात है। इनमें से प्रत्येक इस बात के लिए सर्वथा समर्थ है कि वे किसी भी नगर में जाकर वहाँ के युवाओं को इस बात के लिए प्रेरित करें कि वे अपने सहनागरिकों का साहचर्य छोड़कर इनके साथ आयें और इस अनुकम्पा के लिए शुल्क स्वरूप न सिर्फ धन ही दें अपितु साथ ही अनुग्रहित भी हों।

पैरोज़ का एक और दक्ष व्यक्ति यहाँ पर आया था; मैं एक ऐसे व्यक्ति को भी जानता हूँ जिसने अन्य समस्त व्यय के योग से भी अधिक मात्रा में सोफिस्ट दार्शनिकों को शुल्क देने में व्यय किया है। यहाँ पर मेरा आशय हिप्पोनिकस के पुत्र कैलियस से है। अतः मैंने उससे पूछा (उसके दो पुत्र हैं) कैलियस ! यदि तुम्हारे दोनों पुत्र बछड़े या खच्चर होते तो उनके प्राकृतिक गुणों को परिमार्जित करने के लिए किसी प्रशिक्षक को ढूढ़ना उतना दुष्कर कार्य न होता और स्वाभाविक है कि उनका प्रशिक्षक या तो कोई घोड़ों का व्यापारी होता या फिर कोई कृषक। चूँकि वे मनुष्य हैं तो तुम उनके लिए किस प्रकार का प्रशिक्षक लाओगे ? ऐसा कौन सा दक्ष व्यक्ति होगा जो उनके मानवीय और सामाजिक गुणों को परिष्कृत व परिमार्जित कर पाये ? यह मानते हुए कि चूँकि तुम उनके पिता हो तो तुमने इस प्रश्न पर विचार तो किया ही होगां ? क्या कोई ऐसा दक्ष व्यक्ति है भी अथवा नहीं ?

उसने कहा – निश्चय ही।

मैंने कहा – वह कौन है और कहां से आया है ? उसका शुल्क क्या है ?

उसने कहा – सुकरात! वह है पैरोज का इवेनस और उसका शुल्क पॉच मीना है।

मैंने सोचा कि यदि इवेनस वास्तव में इस कला में दक्ष है और इतने सीमित शुल्क पर वह इन कलाओं को सिखाता है तो निश्चय ही वह प्रशंसा का पात्र है। यदि मुझमें इन बातों को समझने का गुण होता तो मैं स्वयं को भी गौरवान्वित अनुभव करता और निश्चय ही आत्ममुग्धता से आप्लावित हो जाता। किन्तु भद्रजनों! वास्तव में मेरे पास तो ऐसे गुण हैं ही नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यहां पर संभवतः आप में से कोई मुझे रोककर यह कह सकता है कि सुकरात! तुम करते क्या हो? ऐसा कैसे है कि तुम्हें ही इस प्रकार विप्रस्तुत किया गया है ? निश्चय ही यदि तुमने साधारण गतिविधियों तक स्वयं को सीमित रखा होता, तो तुम इस प्रकार की अफ़वाहों और चर्चाओं के पात्र न बनते। परन्तु तुम्हारा व्यवहार अस्वाभाविक है तुम इस प्रकार की अफ़वाहों और चर्चाओं के पात्र न बनते। इस सन्दर्भ में तुम अपनी व्याख्या दो, यदि तुम नहीं चाहते कि हम इसे स्वयं ही बना लें।

यह एक युक्ति संगत अनुरोध प्रतीत होता है और मैं इस बात की व्याख्या करने का प्रयास करूँगा कि वह क्या है जिसने मुझे इस प्रकार की निरर्थक लोकप्रियता प्रदान की है ? तो कृपया मुझे ध्यान से सुनें। सम्भवतः आपमें से कुछ यह सोचेंगे कि मैं गम्भीर नहीं हूँ, परन्तु मैं आपको आश्वस्त करना चाहता हूँ कि मैं आपको सम्पूर्ण सत्य ही बताऊँगा।

भद्रजनों! मैंने यह प्रतिष्ठा एक विशेष प्रकार के ज्ञान से प्राप्त की है और मैं मानता हूँ कि यह विशेष प्रकार का ज्ञान वस्तुतः मानवीय ज्ञान ही है। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस सीमित अर्थ में, मैं एक बुद्धिमान व्यक्ति हूँ। सम्भवतः जिन प्रतिभावानों का मैंने अभी उल्लेख किया, वे ऐसे प्रकार के ज्ञान में दक्ष हैं जो कि सम्भवतः अतिमानवीय है। मुझे नहीं पता कि मैं उनके ज्ञान के लिए कोई भी अन्य व्याख्या दे सकता हूँ। किन्तु निश्चय ही मेरें पास इस प्रकार का कोई भी ज्ञान नहीं है और कोई भी व्यक्ति जो यह कहता है कि सुकरात के पास इस प्रकार का ज्ञान है, वह निश्चय ही जानबूझकर मिथ्यावादन कर रहा है। अब महोदय, यदि आपको लगे कि मैं एक अतिरंजनापूर्ण दावा कर रहा हूँ तो भी आप कृपया मुझे रोकने का प्रयास मत कीजिएगा। क्योंकि अब जो मैं बताने जा रहा हूँ वह मेरी व्यक्तिगत धारणा नहीं है। यहाँ पर मैं एक पूर्णतः अनिन्दित आधिकारिकता की ओर संकेत कर रहा हूँ – अपनी बुद्धिमत्ता के साक्ष्य के रूप में मैं डेल्फ़ी की भविष्यदृष्टा पुजारिन का संदर्भ प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

आप निश्चय ही शेरेफोन को जानते होंगे। वह मेरा लड़कपन का मित्र एवं एक अच्छा जनतांत्रिक है, जिसने आप लोगों के साथ मिलकर हाल ही में बहिष्करण व पुनर्निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आप सभी को पता ही होगा कि वह किस प्रकार का था और जिन चीजों को करने के लिए वह कृतसंकल्प होता था, उसके लिए वह कितना उत्साही था। एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दिन वह वास्तव में डेल्फ़ी गया और उसने भविष्यदृष्टा पुजारिन से यह प्रश्न पूछा – मैंने पहले ही कहा था, महोदय, कि कृपया बीच में हस्तक्षेप न करें– उसने पूछा कि क्या मुझसे (सुकरात) से अधिक बुद्धिमान भी कोई है? इस प्रश्न पर उस पुजारिन ने यह उत्तर दिया कि ऐसा कोई भी नहीं है। चूँकि शेरेफोन कि अब मृत्यु हो चुकी है, इस कारण मेरे कथन का साक्ष्य उसका भाई देगा, जो कि वर्तमान समय में इसी न्यायसभा में उपस्थित है।

भद्रजनों! कृपया आप इस समस्त वर्णन में निहित मेरे उद्देश्य को समझने का प्रयास करें। मैं आपसे यह वर्णित करना चाह रहा हूँ कि मेरी प्रतिष्ठा पर प्रहार का आरम्भ कैसे हुआ ? जब मैंने उस भविष्यदृष्टा के उत्तर के बारे में सुना तो मैंने स्वयं से ही पूछा कि यहाँ ईश्वर का भला क्या आशय है ? वह साधारण व स्पष्ट भाषा का प्रयोग क्यों नहीं करता ? क्योंकि मैं यह भलीभांति जानता हूँ कि मेरे पास विद्वता का, बड़ा या छोटा, कोई भी दावा नहीं है। तो उसके यह कहने का आशय क्या था ? ईश्वर झूठ नहीं बोल सकता; ऐसा करना उसके लिए अनुचित होगा।

कुछ समय तक असमंजस में रहने के पश्चात्, अत्यन्त अन्यमनस्कता के साथ, इसके सत्य की व्याख्या मैंने कुछ इस प्रकार से की। मैं अपनी बुद्धिमत्ता के लिए सुविख्यात एक व्यक्ति के साक्षात्कार के लिए गया, क्योंकि मैंने यह सोचा कि यदि कहीं भी मैं ईश्वर के इस कथन को असत्य सिद्ध कर पाया तो ऐसा यहीं सम्भव हो सकता है। क्योंकि भविष्यदृष्टा ने कहा है कि मैं सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति हूँ, परन्तु यहाँ पर मुझसे भी अधिक बुद्धिमान व्यक्ति विद्यमान है।

मैने उस व्यक्ति को भलीभाँति परीक्षित किया – मुझे उस व्यक्ति का नाम बताने की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु वह हमारे ही उन राजनीतिज्ञों में से एक था, जिनका मैं अध्ययन कर रहा था जब मुझे यह अनुभव प्राप्त हुआ। उसके साथ परिचर्चा में मैंने यह धारणा बनायी कि यद्यपि अनेक व्यक्तियों की राय में और विशेषकर उसकी स्वयं की राय में भी वह बुद्धिमान प्रतीत होता था पर वस्तुतः वह था नहीं। इसके पश्चात् जब मैंने उसके समक्ष यह सिद्ध करने का प्रयास आरम्भ किया कि वह मात्र यह मानता तो था कि वह बुद्धिमान है किन्तु वह वास्तव में था नहीं, तो मेरे इस प्रयास को न सिर्फ उसने, बल्कि वहां उपस्थित अनेक अन्य लोगों ने भी अप्रिय माना। तथापि वहाँ से वापस लौटते हुए मैंने यह समझा कि मैं निश्चित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप से उस व्यक्ति से अधिक बुद्धिमान हूँ। ऐसा भी संभव है कि हम दोनों में से किसी के भी पास दावा करने के लायक ज्ञान न हो, किन्तु इतना तो है कि वह यह मानता है कि वो कुछ जानता है जबकि वह नहीं जानता और मैं अपने अज्ञान के प्रति पर्याप्त रूप से सचेत हूँ। कम–से –कम इस न्यून सीमा तक तो मैं उससे किसी भी प्रकार से अधिक बुद्धिमान हूँ। क्योंकि मैं जो नहीं जानता उसके बारे में यह कदापि नहीं मानता कि मैं उसे जानता हूँ।

तदुपरान्त, मैं एक ऐसे व्यक्ति के पास साक्षात्कार के लिए गया जो ज्ञान के क्षेत्र में उससे भी अधिक प्रतिष्ठित था, किन्तु वहाँ भी मुझे ऐसी ही अवधारणा प्राप्त की। वहाँ भी मुझे उससे और उसके साथ अन्य व्यक्तियों से भी अप्रेय का भाव ही प्राप्त हुआ। उस समय से मैं निरन्तर एक–के–बाद–दूसरे प्रतिष्ठित व्यक्ति का साक्षात्कार करता रहा। मैं कठिनाइयों एवं चेतावनियों के साथ यह भली–भांति समझता रहा कि इस प्रकार मैं स्वयं को अलोकप्रिय बना रहा हूँ। किन्तु मैं अपने धार्मिक कर्तव्य के द्वारा प्रतिबद्ध था। क्योंकि मैं भविष्यदृष्टा के वचनों में निहित आशय को जानना चाह रहा था और इसलिए मैं उन सभी व्यक्तियों का साक्षात्कार करने को बाध्य था जो बुद्धिमता के दावेदार के रूप में प्रतिष्ठित थे और महोदय! ईश्वर की कसम! मुझे आपसे बेबाक होना ही पड़ेगा – इस अनुसंधान में, जिसमें कि मैं स्वयं ईश्वरीय आदेश द्वारा प्रेरित हूँ, मेरी ईमानदार धारणा यही बनी और यही ज्ञात हुआ कि सर्वाधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रायः पूर्णतया बुद्धिहीन होते हैं और जो अन्य उनसे प्रायः कमतर माने जाते हैं, वे व्यावहारिक बुद्धि में उनसे अधिक योग्य होते हैं।

मैं चाहता हूँ कि आप मेरी इस यात्रा को स्वयं भविष्यद्रष्टा के द्वारा प्रदत्त सत्य को स्थापित करने के लिए की गई तीर्थयात्रा के समान ही मानें। ऐसे में जब मैं राजनीतिज्ञों से भर पाया तब मैं कवियों, नाटककारों, गीतकारों एवं अन्य सभी के पास इस विश्वास के साथ पहुँचा कि मैं उनकी तुलना में स्वयं को अज्ञानी पाऊँगा। मैं प्रायः उनसे उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति को लेकर प्रश्न करता – यह जानने के लिए कि उन्होंने जो लिखा है उसका आशय क्या है ? ताकि मैं, अपने ज्ञान को और अधिक विस्तृत कर सकूं। किन्तु महोदय, मैं आपको सत्य बताने में संकोच करता हूँ यद्यपि मुझे यह बताना ही होगा – ऐसा कहने में कोई भी आतिश्योक्ति नहीं होगी कि राह–चलता कोई भी व्यक्ति इन कठिनाइयों की, उनके वास्तविक रचनाकारों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से कहीं बेहतर व्याख्या कर सकता था। तो इस प्रकार मैंने कवियों के बारे में भी अपना मत स्थापित कर लिया। मैंने यह सुनिश्चित कर लिया कि उनकी बुद्धिमत्ता उन्हें लेखन के लिए प्रेरित नहीं करती बल्कि एक प्रकार की अंतर्दृष्टि अथवा अन्तर्निहित प्रेरणा करती है, जैसा कि प्रायः हम दृष्टाओं और पैगम्बरों में देखते हैं जो कि ऐसे सूक्ष्म संदेश देते हैं जिनका आशय वे स्वयं भी नहीं समझते। मेरे समक्ष यह पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि कवि भी इसी प्रकार के हैं और मैंने यह देखा कि चूंकि वह कवि हैं इसलिए वह समझते हैं कि उन्हें अन्य सभी विषयों का भी पूर्ण ज्ञान है, जबकि वास्तव में वे उनसे पूर्णतः अनभिज्ञ हैं और इसलिए मैंने अनुसंधान की इस दिशा को भी छोड़ दिया। यहाँ पर भी मैंने इसी प्रकार के अनुभव को प्राप्त किया, जैसा की मैंने राजनीतिज्ञों के साथ किया था।

अंततः मैं दक्ष हस्तशिल्पियों के पास गया। मैं यह भलीभांति जानता था कि मेरे पास किसी भी प्रकार की योग्यता नहीं है और मेरा विश्वास था कि वे सभी प्रकार के तकनीकी ज्ञान से युक्त होंगे। यहां पर मैं निराश नहीं हुआ। वे इन चीजों को भलीभांति समझते थे जिन्हें मैं नहीं समझता था, और इस सीमा तक वे मुझसे अधिक बुद्धिमान थे। किन्तु महोदय, ये दक्ष व्यवसायी भी उसी प्रकार की कमी से ग्रस्त थे, जो मैंने कवियों में पायी थी। मेरा तात्पर्य है कि अपनी तकनीकी दक्षता के कारण वे अन्य सभी महत्वपूर्ण विषयों के भी सम्पूर्ण ज्ञान का दावा करते थे और मुझे ये लगा कि उनकी यह त्रुटि उनकी सकारात्मक बुद्धि पर भारी पड़ रही थी। अंततोगत्वा मैंने स्वयं को ही भविष्यदृष्टा का समर्थक बना लिया एवं स्वयं से पूछा कि क्या मैं जैसा हूँ वैसा ही रहूँ? – न तो उनके ज्ञान से संचित और न ही उनकी मूर्खता से प्रभावित? या फिर उनके ही समान दोनों ही गुणों को प्राप्त करू? और मैंने स्वयं के द्वारा भविष्यद्रष्टा को यही उत्तर दिया कि मैं जैसा हूँ वैसा ही अच्छा हूँ।

सम्मानित जनों! मेरे इन अनुसंधानों के फलस्वरूप मेरे प्रति अनेक विरोध उत्पन्न हुए, विशेषकर एक अत्यन्त ही सतत् प्रकार का कठोर विरोध, जिसके फलस्वरूप मेरे विरुद्ध अनेक दुर्भावनापूर्ण सुझाव आये, जिनमें एक यह है कि मैं बुद्धिमत्ता का दावा करने वाला व्यक्ति हूँ। संभवतः इसका कारण यह है कि जब भी मैं दूसरे व्यक्ति के बुद्धिमता के दावे को अप्रमाणिक करने में सफल हुआ तब अन्य व्यक्तियों ने इस सन्दर्भ में यह मान लिया कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मैं इस विषय में सबकुछ जानता हूँ। किन्तु महोदय, वास्तविकता तो यह है और यह नितांत सत्य भी है कि वास्तविक ज्ञान ईश्वर की सम्पत्ति है और ईश्वर ने भविष्यद्रष्टा के माध्यम से हमें यही बताया है कि मानवीय बुद्धि का किंचित या न्यूनतम मूल्य भी नहीं है। मुझे यह लगता है कि वह शब्दशः मात्र सुकरात की ओर संकेत नहीं कर रहा, वरन् मेरा नाम तो उसने हम सबसे वास्तविकता का वर्णन करने के लिए उदाहरण मात्र के रूप में प्रयोग किया है। आप में से सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति वही है जिसने सुकरात की भांति यह जान लिया है कि ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में वह वास्तव में निर्मूल्य है।

इसी कारण मैं यदि किसी को बुद्धिमान मानता हूँ, चाहे वह नागरिक हो या अपरिचित, और जब मैं सोचता हूँ कि कोई व्यक्ति बुद्धिमान नहीं है या नहीं, तो ऐसे में मैं दैवीय आदेश के अनुपालन के लिए ही निरंतर प्रयासरत रहता हूँ और यह प्रमाणित करके कि वह वैसा नहीं है, मैं ईश्वर के कार्य में ही सहयोग करना चाहता हूँ। इस व्यवसाय ने मुझे निरंतर व्यस्त रखा जिसके कारण न तो मैं राजनीति कर सका और न ही अपने कार्य। वास्तव में ईश्वर के प्रति की गई इस सेवा ने मुझे अत्यन्त निर्धन बना दिया है।

इसके अतिरित मेरे अलोकप्रिय होने का एक कारण और भी है। अनेक धनी पिताओं के अत्यधिक आराम का समय व्यतीत करने वाले अनेक युवा पुत्र मुझसे जानबूझकर जुड़े हैं क्योंकि वे दूसरे अन्य व्यक्तियों के साथ मेरे साक्षात्कार और संवाद से आनन्दित होते हैं। वे अक्सर मुझे अपना आदर्श मान लेते हैं और मेरे समान अन्य व्यक्तियों से प्रश्न करने का प्रयास करते हैं। ऐसे में वे उन अनगिनत लोगों से मिलते हैं जो स्वयं को बुद्धिमान मानते हैं, हालांकि वास्तव में वे बहुत कम या कुछ भी नहीं जानते। ऐसे में उन युवाओं के शिकार उनसे नहीं अपितु मुझसे क्रोधित हो जाते हैं और यह शिकायत करते हैं कि सुकरात एक असाध्य रोग फैलाने वाला तथाकथित ऐसा व्यस्त व्यक्ति है, जो युवाओं के मनस को अनेक गलत विचारों से भर रहा है। किन्तु यदि आप उनसे पूछें कि वो (सुकरात) ऐसा क्या करता, पढ़ाता है जिसका यह प्रभाव है तो वे निरुत्तर हो जाते हैं। परन्तु चूंकि वे अपने इस भ्रम को स्वीकार नहीं करना चाहते तो इसलिए वे दार्शनिकों कें विरुद्ध पूर्वनिर्मित आक्षेपों का प्रयोग करने लगते हैं कि वह अपने विद्यार्थियों को उन वस्तुओं के बारे में बताता है जो आकाश के ऊपर या पृथ्वी के नीचे है, जो ईश्वर में अविश्वास करना सिखाता है और निर्बल तर्कों के माध्यम से सबल तर्कों को परास्त करता सिखाता है। ऐसे लोग, मेरा मानना है, इस तथ्य को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वीकार करने से पूर्णतः विरक्त होंगे कि जो ज्ञान उन्हें नहीं आता, उस ज्ञान की दावेदारी करते हुए पकड़े गये हैं; तो अपनी प्रतिष्ठा के हनन के कारण द्वेष रखने वाले ऐसे उत्साही व्यक्तियों को जब अधिक संख्या में सम्मिलित होने पर एक मंच मिल जाता है तो वे मेरे विरुद्ध ऐसे दावे प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि लम्बे समय से आपके कानों में भरा जा रहा है और जो पिछले कई वर्षों से मेरे विरुद्ध हिंसक प्रतिक्रिया के रूप में किया जाता रहा है।

न्यायसभा के सम्मानित जनों! यही वो कारण है महोदय जिसने मिलेटस, एनाइटस एवं लाइकॉन को मेरे विरुद्ध अभियोग के लिए प्रेरित किया है। जहां एक ओर मिलेटस कवियों की तरफ से पीड़ित है, वहीं एनाइटस राजनीतिज्ञों एवं व्यवसाइयों की तरफ से, लाइकॉन वक्ताओं की तरफ से पीड़ित है। तो जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा था कि यदि मैं इतनी सीमित अवधि में आपके मनस में बहुत गहरे समारोपित किये गए इन मिथ्या प्रत्ययों को हटाने में सफल हो जाऊँ तो यह निश्चित ही मेरे लिए अत्यन्त आश्चर्यजनक होगा।

भद्रजनों! ये मैंने आपके समक्ष बिना किसी आवरण या दबाव के, चाहे वो बड़ा हो या छोटा, सत्य तथ्य रख दिए हैं। मेरा यह विश्वास है कि मेरा यही स्पष्टवादन मेरी अलोकप्रियता का कारण है और यह प्रमाणित करता है कि मेरे कथन सत्य हैं एवं मैंने अपने विरुद्ध लगाए गए समस्त मिथ्यारोपों के आधार एवं स्वभाव को सही रूप में प्रस्तुत किया है। आप चाहे इनका परीक्षण अभी करें या फिर बाद में, आप सत्य बिल्कुल वैसा ही पाएंगे जैसा कि मैंने विवरण दिया।

तो यह तो मेरे प्रथम समुदाय के आरोपकर्ताओं के द्वारा लगाए गए आरोपों की संरक्षा थी। अब मैं अत्यधिक अनुशासित एवं सैद्धान्तिक होने का दावा करने वाले मिलेटस के द्वारा लगाए गए आरोपों के संदर्भ में स्वयं को संरक्षित करने का प्रयास करूँगा और इसके बाद ही मैं शेष सभी के संदर्भ में स्वयं की संरक्षा प्रस्तुत करूँगा।

सर्वप्रथम तों हमें इस प्रस्ताव का पुनर्परीक्षण करना होगा, जिसे इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है मानो वह एक नवीन आरोप हो। वह कुछ इस प्रकार है – सुकरात् युवाओं के मनस को भ्रष्ट करने का अपराधी है और राज्य के द्वारा स्वीकृत देवताओं के स्थान पर स्वयं के द्वारा आविष्कृत देवताओं को मानने का अपराधी है। चलिए, हम इस आरोप का भी बिंदुवार परीक्षण करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सर्वप्रथम इस आक्षेप में कहा गया है कि मैंने युवाओं को पथभ्रष्ट किया है। किन्तु महोदय, मैं यह कहना चाहता हूँ कि मिलेटस ने गम्भीर मुद्दों को हल्का बना दिया है, क्योंकि वह बचकाने आधारों पर लोगों पर अभियोग लगा रहा है और इन विषयों में चिंतित होने का दावा कर रहा है, जिनमें वस्तुतः उसकी किंचित भी रुचि नहीं है। उसके लिए, इस संदर्भ में, मैं आपके समक्ष संतोषजनक प्रमाण प्रस्तुत करूँगा।

आओ मिलेटस! तुम मुझे यह बताओ कि क्या तुम इस बात को सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं मानते कि युवा वर्ग को सर्वश्रेष्ठ प्रभाव से परिचित कराना चाहिये?

मैं मानता हूँ।

बेहतर है। अच्छा तो अब इन भद्रजनों को यह बताओ कि वह कौन है जो युवाओं क़ो बेहतरी के लिए प्रभावित करता है? यदि तुम इसमें रुचि रखते हो तो स्वाभाविक रूप से तुम्हें पता ही होगा। तुमने मेरा तथाकथित दुष्प्रभाव खोजा है और मुझे इन सम्मानित जनों के समक्ष आरोपित भी कर रहे हो। तो बताओ और इन्हें सूचित करो कि वो क्या है जो युवा वर्ग पर सर्वश्रेष्ठ प्रभाव डालता है? ... देखा मिलेटस! तुम अवाक् हो तथा क़ोई भी उत्तर नहीं दे पा रहे। क्या तुम्हें नही लगता कि न सिर्फ यह तुम्हारे लिए अपमानजनक है बल्कि इस बात का प्रमाण है कि, जैसा कि मैंने पहले ही कहा था, तुम्हें इस विषय में कोई भी रुचि नहीं है? बताओ मेरे मित्र, वह क्या है जो युवाओं को नेक बताता है?

वह विधि है!

मेरा यह आशय नहीं है प्रिय मित्र! मैं तुमसे उस व्यक्ति का नाम जानना चाहता हूँ जिसका प्राथमिक व्यवसाय ही विधि को जानना है।

सुकरात! वो ये भद्रजन हैं जो कि इस न्यायसभा के सदस्य हैं।

तो मिलेटस! तुम्हारा आशय यह है कि इनके पास युवाओं को शिक्षित करने और उन्हें बेहतर बनाने का सामर्थ्य है।

निश्चय ही।

और क्या यह न्यायसभा के समस्त सदस्यों पर लागू होता है या मात्र कुछ पर?

सब पर।

बहुत अच्छे। तो यहाँ कल्याणकर्ताओं की प्रचुर पूर्ति है। तो फिर क्या इस न्यायपालिका में विद्यमान दर्शकों का भी कोई प्रभाव बेहतर करने वाला है या नहीं ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हाँ। उनका भी ऐसा प्रभाव है।

और परिषद के सदस्यों के बारे में तुम्हारा क्या कहना है ?

हाँ। उनका भी ऐसा ही प्रभाव है।

पर निश्चय ही, मिलेटस, सभा कें सदस्य तो युवा वर्ग को पथभ्रष्ट नहीं ही करते होंगे? क्या वे सभी परिमार्जक प्रभाव उत्पन्न करते हैं ?

हाँ, वे भी।

तो ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे अतिरिक्त एथेंस की समस्त जनता युवाओं पर सकारात्मक परिमार्जित प्रभाव डालती है। और मैं ही ऐसा एकमात्र हूँ जो उन्हें अनैतिक बनाता हूँ। क्या यही तुम्हारा आशय है ?

निश्चित रूप से हाँ।

यह निश्चय ही मेरे अंदर खोजा गया सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण गुण है। चलिए मैं आपसे अब दूसरा प्रश्न करता हूँ। हम अश्वों के विषय़ में बात करते हैं। क्या आपको विश्वास है कि जो उन्हें बेहतर बनाते हैं, उनमें समस्त मानवजाति शामिल हैं और मात्र एक ही व्यक्ति है जो उन पर बुरा प्रभाव डालता है ? यां फिर सत्य इसके विपरीत है कि उन्हें बेहतर बनाऩे की दक्षता मात्र एक या कुछ व्यक्तियों में है जो कि स्वयं अश्वप्रशिक्षक है, जबकिं वे अधिकांश व्यक्ति जिन्हें अश्वों से कुछ काम है और उनका प्रयोग करते हैं, वस्तुतः उन्हें नुकसान ही पहुँचाते हैं। मिलेटस, क्या अश्वों और सभी अन्य पशुओं के साथ ऐसा ही नही होता? बिल्कुल होता है, चाहे तुम व एनाइटस इसे स्वीकार करो अथवा अस्वीकार करो। ऐसा तो हमारे युवा वर्ग का अद्वितीय सौभाग्य ही होगा, यदि उन्हें पथभ्रष्ट करने वाला मात्र एक ही व्यक्ति हो और अन्य सभी लोग उन पर मात्र लाभकारी प्रभाव ही डाल रहे हों। मुझे इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। इसका पर्याप्त प्रमाण है मिलेटस, कि तुमने युवाओं के बारे में कभी भी अपना दिमाग नहीं लगाया और तुम यह स्पष्ट कर चुके हो कि जिस कार्य के लिए तुम मेरी भर्त्सना कर रहे हो उसमें तुम्हारी स्वयं किंचित भी रुचि नहीं है।

यहाँ पर एक अन्य बिन्दु भी है। मुझे ठीक से सोचकर बताओ मिलेटस, क्या एक अच्छे समुदाय में रहना श्रेष्ठ है या एक बुरे समुदाय में? एक अच्छे व नैतिक सहनागरिक के समान मेरे प्रश्न का उत्तर दो; इसमें कोई कठिनाई तो नहीं है। क्या यह सत्य नहीं है कि दुष्ट लोग जिनके भी सम्पर्क में जाते हैं, उन पर बुरा प्रभाव ही डालते हैं और भले लोग शुभ प्रभाव ही डालते हैं ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बिल्कुल सही।

क्या कोई ऐसा व्यक्ति भी होगा जो अपने सहकर्मियों से लाभान्वित होने की अपेक्षा कष्ट प्राप्त करना चाहेगा ? मुझे उत्तर दो; विधि तुम्हें उत्तर देने का आदेश दे रही है। क्या कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो कष्ट पाना चाहेगा?

बिल्कुल नहीं।

तो फिर जब तुम मुझे इस आरोप पर न्यायालय में बुलाते हो कि मैंने युवाओं को पथभ्रष्ट किया है और उनके चरित्र को बुरा बनाया है, तब तुम्हारे अनुसार मैंने ऐसा सयास किया या अनायास ही।

निश्चय ही सयास।

पर क्यों मिलेटस? क्या तुम अपनी आयु में मेरी तुलना में इतने अधिक बुद्धिमान हो? तुमने यह पाया कि बुरे लोग अपने करीबी लोगों पर बुरा प्रभाव ही डालते हैं और भले लोग अच्छा। तो क्या मैं निराशाजनक रूप से इतना अधिक अज्ञानी प्रतीत होता हूँ कि मैं यह भी न जानूं कि अपने ही एक साथी के चरित्र को भ्रष्ट करके मैं उससे नुकसान पाने का जोखिम उठा रहा हूँ। क्योंकि और कुछ भी मुझे इस प्रकार का जघन्य अपराध करने के लिए सयास प्रेरित नहीं कर सकता। नही मैं ऐसा मानता मिलेटस, और मैं यह भी नहीं मानता कि कोई अन्य ऐसा कर सकता है। तो फिर या तो मेरा कोई बुरा अभाव है ही नहीं, और अगर है भी तो वह अनायास ही है। तो इन दोनों ही परिस्थितियों में तुम्हारा आरोप मिथ्या है। अगर ऐसा अनायास है तो इस प्रकार के निरुद्देशीय विकर्म के लिए अपराधी को अलग से उपदेश या प्रबोधन देने के लिये ले जाया जाता है, किन्तु उसे न्यायालय में प्रस्तुत नहीं किया जाता; क्योंकि स्पष्टतः इन उपदेशों और सुझावों से मेरे नेत्र खुल जाते और मैं यह कार्य करना बन्द कर देता, जो कि मेरा वांछित सयास कार्य था ही नहीं; किन्तु तुमने जानबूझकर भूतकाल में मेरे साहचर्य से स्वयं को विमुख रखा और मुझे इस संज्ञान से वंचित रखा। किन्तु अब तुम मुझे इस न्यायालय में लाये हो, जबकि यह स्थान मात्र उन लोगों के आवन्टित है जिन्हें दण्ड मिलना चाहिए, न कि जिन्हें प्रबोधन मिलना चाहिए।

सम्मानित जनों! यद्यपि अब यह स्पष्ट है, जैसा कि मैंने पहले ही कहा था, कि मिलेटस ने इस विषय पर किसी भी प्रकार की रुचि कभी भी नहीं दिखायी है। तथापि मिलटस, मैं तुम्हें यह बताने हेतु आमन्त्रित करता हूँ कि तुम्हें यह किस प्रकार ज्ञात हुआ कि मैं युवा वर्ग के मनस को दूषित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता हूँ? निश्चय ही तुम्हारे अभियोगों से यह तो स्पष्ट है कि तुम मुझ पर यह आरोप लगाते हो कि मैंने राज्य के द्वारा स्वीकृत देवताओं के स्थान पर उन्हें नवीन देवताओं पर विश्वास करने की प्रेरणा दी है। क्या यही वह शिक्षा नहीं है, जिसके सन्दर्भ में तुम अनैतिक प्रभाव डालने का आरोप लगाते हो?

निश्चय ही यह वही है।

तब मैं उन्हीं देवताओं के नाम पर, जिनके सन्दर्भ में हम बात करते हैं, तुमसे यह आग्रह करता हूँ मिलेटस कि तुम मेरे और न्यायालय के समक्ष अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करो, क्योंकि मैं यह समझ ही नहीं पा रहा हूँ कि वस्तुतः विवाद का बिन्दु क्या है ? क्या वह बिन्दु यह है कि मैं लोगों को कुछ देवताओं पर विश्वास करना सिखा रहा हूँ – जो कि यह स्वतः स्पष्ट करता है कि मैं स्वयं भी ईश्वर में विश्वास करता हूँ और पूर्णतया अधार्मिक नहीं हूँ एवं इस प्रकार इस पक्ष में दोषी नहीं हूँ। तो क्या तुम्हारा आरोप इस तथ्य पर आधारित है कि वे देवता राज्य सम्मत देवताओं से भिन्न हैं? या फिर तुम यह स्थापित करना चाहते हो कि मैं किसी भी प्रकार के देवताओं को नहीं मानता तथा दूसरों को भी यही सिखा रहा हूँ।

हाँ, मैं यही कहता हूँ कि तुम देवताओं में पूर्ण अविश्वास रखते हो।

तुम मुझे चकित कर रहे हो मिलेटस। ऐसा कहने में तुम्हारा क्या मंतव्य है? क्या तुम यह कहना चाहते हो कि मैं सूर्य एवं चन्द्र को देवता नही मानता, जैसा कि समस्त मानव जाति मानती है?

निश्चय ही वह नहीं मानता, न्यायालय के भद्र जनों, चूँकि वह स्वयं ही यह कहता है कि सूर्य एक पाषाण मात्र है और चन्द्र एक मृतिका पिण्ड।

तो मेरे प्रिय मित्र! क्या तुम यह सोचते हो कि तुम स्वयं एनेक्सेगोरस को दण्डित कर रहे हो? क्या इन भद्रजनों के विषय में तुम्हारी धारणा इतनी बुरी है? और तुम इन्हें इतना अशिक्षित मानते हो कि वे यह भी नहीं जानेंगे कि क्लेज़ामीना के एनेक्सेगोरस के द्वारा लिखित ग्रन्थ इस प्रकार के सिद्धान्तों से भरे पड़े हैं? और क्या तुम वास्तव में यह कहना चाहते हो कि यह युवावर्ग इतना मूर्ख है कि जिन विचारों को वह सरलतापूर्वक बाजार में अधिकतम एक दराक्मा में क्रय कर सकता है, वह उन विचारों को ग्रहण करने के लिए मेरे पास आयेगा? मुझे ईमानदारी से बताओ मिलेटस, कि क्या मेरे बारे में तुम्हारी यही धारणा है ? क्या मैं किन्हीं भी देवताओं में विश्वास नहीं रखता ?

बिल्कुल नहीं। किसी भी मात्रा में नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तब मुझे संदेह है मिलेटस, कि तुम बिल्कुल भी विश्वसनीय नहीं हो– स्वयं अपने लिए भी नहीं। महोदय, मेरे विचार से तो यह व्यक्ति पूर्णतया स्वार्थी व धृष्ट है, जिसने मेरे विरुद्ध यह कार्यवाही मात्र आक्रात्मकता एवं आत्माग्रह के लिए की है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह मेरे लिये एक बौद्धिक परीक्षा लाया है जिसमें कि वह स्वयं से ही मात्र परिहास के लिए यह कह रहा है कि क्या अपराजेय सुकरात यह जान भी पायेगा कि मैं स्वयं का ही विरोध कर रहा हूँ? या फिर मैं इसे, और साथ में अन्य दर्शकों को भी, धोखा करने में सफल हो जाऊंगा?

निश्चित ही मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस आरोप स्वयं का ही विरोध कर रहा है, जो कुछ इस प्रकार का है – सुकरात देवताओं में विश्वास न करने का अपराधी है, किन्तु वह देवताओं में विश्वास कर रहा है और यह शुद्ध हलकापन है।

सम्मानित जनों! मैं आप सभी को आमन्त्रित करता हूँ कि मेरे साथ आप भी इस युक्तिप्रवाह को परीक्षित करें, जो मुझे इस निष्कर्ष तक ले जाती है। मिलेटस, क्या तुम मेरे प्रश्नों के उत्तर देकर हम सबको अनुग्रहित करोगे? जैसा कि मैंने आप सब से प्रारम्भ में ही विनम्र निवेदन किया था, कि जब मैं इस परिचर्चा को अपनी पारम्परिक विधि से करूँ तो कृपया हस्तक्षेप न करें।

मिलेटस! क्या जगत में कोई भी ऐसा है जो मानवीय गतिविधियों में विश्वास रखता हो, किन्तु मनुष्यों में नहीं? भद्रजनों! कृपया आप इसे उत्तर देने के लिए बाध्य करें, नहीं तो यह मात्र निरन्तर आपत्तियाँ ही उठाता रहेगा। क्या कोई ऐसा भी है जो अश्वों के अस्तित्व में तो विश्वास न करे, किन्तु अश्वों की गतिविधियों में विश्वास रखता हो? या फिर जो संगीतज्ञों में विश्वास न रखे, किन्तु संगीत सम्बन्धी गतिविधियों में विश्वास रखता हो?

नहीं, ऐसा नहीं है मेरे प्रिय मित्र! यदि तुम कोई उत्तर नहीं देना चाहते हो तो मैं तुम्हारे और साथ ही इन भद्रजनों के लिए अपनी ओर से उत्तर दे देता हूँ। किन्तु मेरे अगले प्रश्न का उत्तर तो तुम्हें देना ही होगा। क्या कोई ऐसा भी है जो अतिमानवीय गतिविधियों में तो विश्वास रखता हो, किन्तु अतिमानवीय सत्ताओं में नहीं?

नहीं।

यह कितनी अच्छी बात है कि तुमने न्यायपालिका के दबाव में आकर एक उत्तर दे ही दिया। तो अब क्या तुम यह स्थापित करना चाहते हो कि मैं अतिमानवीय गतिविधियों में विश्वास करता हूँ और साथ ही दूसरों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को भी विश्वास करना सिखाता हूँ ? इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वे नवीन हैं अथवा पुरानी। तथ्य तो यह है कि तुम्हारे कथनानुसार मैं विश्वास करता हूँ और निश्चय ही इस बात को तुमने अपने शपथपत्र में भी स्वीकार किया है। किन्तु यदि मैं अतिमानवीय गतिविधियों में विश्वास करता हूँ तो इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि मैं अतिमानवीय सत्ताओं में भी विश्वास करता हूँ। क्या ऐसा नहीं है ?

वस्तुतः ऐसा ही है। चूँकि तुम कोई प्रतिक्रिया नही दे रहे, अतः मैं तुम्हारे मौन को तुम्हारी स्वीकृति के रूप में स्वीकार कर लेता हूँ। क्या तुम यह नहीं मानते कि ऐसी अतिमानवीय सत्ताएं या तो स्वयं देवता ही होंगे या फिर देवपुत्र ? क्या तुम इसे स्वीकार करते हो या नहीं?

निश्चय ही।

तो फिर जैसा कि तुमने स्वयं ही कहा है कि यदि मैं अतिमानवीय सत्ताओं में विश्वास करता हूँ और यह अतिमानवीय सत्ताएं किसी भी मायने में स्वयं देवता ही हैं, तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जिसका मैंने अभी वर्णन किया है जब मैंने कहा कि तुम अपने परिहास मात्र के लिए मेरा बौद्धिक परीक्षण कर रहे हो, क्योंकि तुम पहले तो यह कहते हो कि मैं देवताओं में विश्वास नहीं करता और बाद में यह कहते हो कि चूँकि मैं अतिमानवीय सत्ताओं में विश्वास करता हूँ, इसलिए मैं देवताओं में भी विश्वास करता हूँ। और यदि दूसरी तरफ यह अतिमानवीय सत्ताएं देवकन्याओं या किसी अन्य महिला से उत्पन्न देवताओं की ही अनैतिक संतान हैं, जैसा कि उनके बारे में कहा ही जाता है, तो भी भला ऐसा कौन होगा जो देवपुत्रों के अस्तित्व में तो विश्वास करें किन्तु स्वयं देवताओं में नहीं ? यह उसी प्रकार हास्यास्पद होगा, जिस प्रकार कोई अश्व और गर्दभ की संतानों में तो विश्वास करे, किन्तु स्वयं अश्व एवं गर्दभ के अस्तित्व में नहीं। नहीं मिलेटस! इस निष्कर्ष से बचा नहीं जा सकता कि तुमने मेरे विरुद्ध यह अभियोग मात्र मेरी बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए लगाए हैं और या फिर इसलिए क्योंकि मुझ पर आक्षेप लगाने के लिए तुम कोई वास्तविक अभियोग खोज ही नहीं पाये। क्योंकि यह संभावनाओं के परे है कि तुम किसी भी ऐसे जीवित मनुष्य, जिसमें तनिक भी बुद्धि हो, को आश्वस्त कर सकते हो कि अतिमानवीय एवं दैवीय गतिविधियों पर विश्वास करने से अतिमानवीय एवं दैवीय सत्ताओं का अस्तित्व स्वतः सिद्ध नहीं होता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वास्तव में, महोदय, मुझे यह नहीं लगता है कि मुझे मिलेटस के आरोपों से बचने के लिए अधिक प्रयत्न की आवश्यकता है। जो कुछ भी मैंने अब तक कहा है, वह इसके लिए पर्याप्त प्रमाण है। किन्तु आप उस सत्य को भली–भांति जानते ही होंगे, जो मैंने अपने वक्तव्य के आरम्भिक भाग में प्रस्तुत किया था, कि मुझसे बहुत अधिक विरोध रखा गया है और यही मेरा नाश करेगा और कुछ भी नहीं – न मिलेटस और न ही एनाइटस, बल्कि लोगों के एक बड़े समुदाय की ईर्ष्या और मिथ्यावादन। ये अनेक अन्य निरपराध व्यक्तियों के लिए घातक रहे हैं और मैं मानता हूँ कि आगे भी रहेंगे। ऐसा बिल्कुल नहीं लगता कि वे मुझ पर ही समाप्त हो जाएँगे। पर सम्भवतः कोई यह कहे कि सुकरात, क्या तुम उन आरोपों की श्रृंखला का अनुगमन करते हैं, जिन्होंने तुम्हें मृत्युदण्ड की भयंकर स्थिति में पहुँचाया है, क्या तुम किसी भी प्रकार के आत्मविरोध का अनुभव नहीं करते?

ऐसे में मैं उसे यह उत्तर दे सकता हूँ कि मित्र, यदि आप यह समझते हैं कि किसी भी मूल्यवान व्यक्ति को अपने साक्ष्य को जीवन और मृत्यु की तुलना करते हुए गंवाना चाहिए, तो आपसे त्रुटि हुई है। उसे किसी भी कार्य को करते समय मात्र एक ही बात सोचनी चाहिए और वह यह है कि जो कार्य वह कर रहा है, वह सही है या गलत ? और वह एक भले व्यक्ति की भाँति कार्य कर रहा है या बुरे ? आपके विचार से वे नायक जो ट्रॉय के युद्ध में मारे गए, विशेषकर थेटीस, वे कमजोर होंगे? सम्भवतः आपको स्मरण होगा कि उसने संभावित अपमान की अपेक्षा जोख़िम को हल्का आंका था, जब वह हेक्टर को मारने के लिए तत्पर था, किन्तु उसकी देवी माँ ने उसे सचेत किया था। मैं कल्पना करता हूँ कि सम्भवतः कुछ इन शब्दों में उससे ये कहा गया होगा कि मेरे पुत्र! यदि तुम अपने साथी पेट्रोक्लस की मृत्यु का बदला लेते हो और हेक्टर को मारते हो, तो निश्चय ही तुम स्वयं भी मारे जाओगे। हेक्टर के पश्चात् तुम्हारी भी नियति अवश्यंभावी है.। जब उसने यह चेतावनी सुनी तो उसने अपनी मृत्यु के भय को हवा में उड़ाते हुए यह माना कि मित्र की मृत्यु का बदला न ले सकने से कहीं अधिक भयंकर व अपमानजनक वह अभद्र् जीवन होगा, जिसमें ऐसा नहीं किया गया। उसने कहा होगा कि यहाँ इन नुकीले जहाजों के बीच में रहकर उपहास का पात्र और धरती का बोझ बनने की बनिस्पत उस खलनायक को परास्त करने के उपरांत उसे मृत्यु का वरण कंर लेना कहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है। क्या आप किंचित मात्र भी यह मानते हैं कि उसने मृत्यु के विचार को अधिक महत्त्व दिया होगा ? सत्य तो यह है, महोदय, कि जब किसी व्यक्ति ने अपना निर्णय ले लिया होता है – या तो इस कारण कि वह निर्णय उसे सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता हैं, या फिर वह निर्णय उसे दिए गए आदेशों के अनुरूप है, तब मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उसे भय के समक्ष भी प्रतिबद्ध रहना चाहिए और अपमान के समक्ष मृत्यु का तनिक भी ध्यान नहीं रखना चाहिए। महोदय ! ऐसा न होने पर यह मेरे अनुसार एक धिक्कार योग्य आत्म विरोध होगा, कि जब आपने पोटीडिया, एम्फीबोलिस और डीलियम में मुझे नियुक्त किया, तब तो मैं अन्य व्यक्तियों के समान ही अपने स्थान पर बना रहा और मृत्यु का सामना किया। किन्तु उसके पश्चात् जब ईश्वर ने मुझे इसलिए नियुक्त किया, जैसा कि मैं सोचता हूँ और मानता हूँ, कि मैं स्वयं व दूसरों की विवेचना करते हुए एक दार्शनिक जीवन बिताऊ, तब मैं मृत्यु के भय या फिर किसी भी अन्य भय के कारण उस ईश्वर प्रदत्त नियुक्ति को छोड़ दूँ। तब यह निश्चय ही मेरे लिए धि क्कारपूर्ण होगा और तब संभवतः यह न्याय संगत होगा कि मुझे न्यायालय में इस अभियोग पर बुलाया जाए कि मैं देवताओं में आस्था नहीं रखता, भविष्य वक्ता की अवज्ञा करता हूँ या मृत्यु के भय ग्रसित हूँ या फिर मैं स्वयं को बुद्धिमान समझता हूँ, जबकि मैं नहीं हूँ। किन्तु महोदय! मैं आपके समक्ष यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मृत्यु से भयभीत होना एक प्रकार से वही विचार है, जब हम सोचते हैं कि हम बुद्धिमान हैं, जबकि हम होते नहीं। यह इसी प्रकार से सोचना है कि हम वह जानते है जो कि वस्तुतः हम नहीं जानते। मृत्यु के संदर्भ में कोई भी यह नहीं जानता कि क्या वह मनुष्य को प्राप्त होने वाला सर्वश्रेष्ठ वरदान है अथवा नहीं, किन्तु लोग उससे यूँ डरते हैं मानो वही सबसे बड़ा अशुभ है और यही वह अज्ञान है जिसके कारण हम ऐसा मानते हैं कि हम वह भी जानते हैं जो कि वस्तुतः हम नहीं जानते, तो यह निसंदिग्ध रूप में एक ऐसा अज्ञान है, जो कि दण्डनीय है। महोदय! मैं ऐसा मानता हूँ कि इस मात्रा में और अन्य मनुष्यों की अपेक्षा मेरी यह विशेष परिस्थिति है कि यदि मैं अपने पड़ोसी से किसी भी मायने में अधिक बुद्धिमान हूँ, तो वह मात्र इस संदर्भ में है कि मेरे पास मृत्यु के पश्चात् क्या आता है, इसका कोई भी ज्ञान नहीं है और मैं यह भी जानता हूँ कि मुझे इसका कोई भी ज्ञान नहीं है। किन्तु मैं यह जानता हूँ कि गलती करना व अपने से वरिष्ठ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की अवज्ञा करना, चाहे वह ईश्वर हो या मनुष्य, दुष्टता है एवं अपमानजनक है। इस कारण मैं ऐसी किसी भी वस्तु के प्रति भय या वितृष्णा का अनुभव नहीं कर पाता, जो कि वास्तव में संभवतः एक वरदान ही हो, बजाय उन तमाम अशुभों के संदर्भ में, जिन्हें मैं निश्चित ही अशुभ के रूप में जानता हूँ।

तब मान लीजिए कि आप मुझे मुक्त कर देते हैं और एनाइटस पर कोई ध्यान नहीं देते, जिसका यह कहना था कि एक तो मुझे न्यायालय में आना ही नहीं चाहिए था और चूँकि मैं अब आ ही गया हूँ, इसलिए मुझे मृत्युदण्ड मिलना चाहिए, क्योंकि यदि मैं बच गया तो आपके समस्त पुत्र सुकरात के उपदेशों को व्यवहार में लाकर पूर्णतया अनैतिक हो जाएँगे। मान लीजिए कि इस वस्तुस्थिति के प्रकाश में आप मुझसे कहते हैं कि सुकरात! इस अवसर पर हम एनाइटस के कहे की अवमानना करते हुए तुम्हें मुक्त करते हैं परन्तु सिर्फ इस शर्त पर कि तुम इस विवेचना पर अपना समय व्यय करना रोक दोगे और अपना दार्शनिक चिंतन समाप्त कर दोगे और यदि हमने तुम्हें पुनः इस पथ पर अग्रसर पाया, तो हम तुम्हें मृत्युदण्ड दे देंगे। ऐसे में मान लें कि जैसा मैंने कहा कि इन शर्तों पर आप मुझे मुक्त होने का अवसर देते हैं, तो मैं आप सबसे कहूँगा कि महोदय, वैसे तो मैं आपका अनुग्रहित दास हूँ, किन्तु मैं ईश्वर के प्रति कहीं अधिक अनुग्रहित हूँ ओर जब तक मेरी श्वास शेष है और जब तक मेरी क्षमताएँ बाकी हैं, तब तक मैं दार्शनिक चिंतन बंद नहीं करूँगा और मैं जिसको भी मिलता हूँ, उसे सत्य बताता चलूँगा। मैं अपनी स्वाभाविक शैली में यह कहता रहूँगा कि मेरे मित्र! तुम एक एथेनियन हो। तुम ऐसे नगर के वासी हो, जो विश्व में अपनी विद्वता और शक्ति के लिए प्रख्यात है। क्या तुम्हें इस बात में शर्म नहीं आती कि तुम अपने समस्त प्रयास अधिक–से–अधिक धन कमाने में, प्रशस्ति और सम्मान अर्जित करने पर केन्द्रित करते हो और सत्य पर, आत्मा की पूर्णता पर कोई ध्यान नहीं देते ?

यदि आप में से कोई भी इसका विरोध करता है और यह दावा करता है कि वह इन विषयों पर ध्यान देता है, तो भी मैं उसे यूँ ही तुरन्त जाने नहीं दूँगा। मैं उससे प्रश्न करूँगा और उसे परीक्षित करूँगा और यदि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अपने दावे के बावजूद उसने शुभत्व की दिशा में कोई भी प्रगति नहीं की है, तो मैं उसे इस बात के लिए निश्चित रूप से निंदित करूँगा कि उस व्यक्ति ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया, जो कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और मात्र उस पर ध्यान दिया जो पूर्णतः असत ही है। मुझे जो भी मिलेगा मैं उसके साथ ऐसा ही व्यवहार करूँगा, चाहे वह युवा हो या वृद्ध, विदेशी हो या साक्षी नागरिक, किन्तु विशेषकर आप सबके साथ मेरे सहनागरिकों, क्योंकि आप मेरे करीबी नातेदार हैं। मैं आप सभी को आश्वस्त करता हूँ कि यही मेरे ईश्वर का आदेश है। यह मेरा विश्वास है कि इस प्रकार जो सेवा मैं अपने ईश्वर की कर रहा हूँ, उससे महान कोई भी और शुभ इस नगर के लिए नहीं हो सकता है। क्योंकि मैं अपना सारा समय आप सबको, चाहे वह युवा हो या वृद्ध, इस बात के लिए प्रेरित करने में लगाता हूँ कि आप सभी अपने शरीर व अपनी प्राप्य वस्तुओं को नहीं, अपितु अपनी आत्मा के सर्वोच्च कल्याण को ही अपना सर्वोपरि उद्देश्य मानें और मैं सदैव यही उद्घोषणा करता हूँ कि संपत्ति शुभता नहीं लाती, अपितु यह शुभत्व है, जो कि संपत्ति और व्यक्ति तथा राज्य के लिए अन्य सभी कृपाएँ लाता है।

अब यदि मैं युवाओं को इस संदेश के माध्यम से पथभ्रष्ट कर रहा हूँ, तो यह संदेश निश्चय ही हानिकारक प्रतीत होता होगा, किन्तु यदि कोई ऐसा कहता है कि मेरा संदेश इससे कुछ भिन्न है तो वह एक निरर्थक कथन ही होगा। इस कारण, महोदय, मैं यह कहना चाहूँगा कि आप एनाइटस की सुनें या न सुनें, मुझे मुक्त करें या न करें, यह आप पर निर्भर करता है। किन्तु आप जानते हैं कि मैं अपने आचरण को बिल्कुल नहीं बदलूंगा चाहे उसके लिए मुझे सौ बार ही क्यों न मरना पड़े।

कृपया शान्त रहें महोदय और मेरे पूर्व कथित विनम्र निवेदन को याद रखें कि आप मुझे बिना किसी हस्तक्षेप के सुनेंगे। वैसे भी मेरा यह मानना है कि मुझे सुनना आपके लिए निश्चित ही लाभप्रद होगा। म आपको और भी कुछ बताना चाहता हूँ जो यद्यपि आप में से बहुतों को उद्वेलित करेगा, किन्तु मेरा पुनर्निवेदन है कि आप स्वयं पर नियन्त्रण बनाए रखें। मैं आपको आश्वस्त करता हूँ कि यदि मैं वही हूँ जैसा कि होने का दावा करता हूँ और फिर भी आप मुझे मृत्युदण्ड देते हैं तो आप मुझसे अधिक स्वयं की हानि करेंगे। न तो मिलेटस और न ही एनाइटस मुझे कोई हानि पहुँचा सकते हैं; उनके पास इतना सामर्थ्य ही नहीं है, क्योंकि यह मेरे विश्वास से परे है कि दैवीय नियम कभी भी किसी बुरे व्यक्ति के द्वारा बेहतर व्यक्ति को हानि पहुँचाने की अनुमति देला है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि मेरा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आरोपकर्ता मुझे मृत्युदण्ड दिलवा सकता है या फिर देश निकाला भी दिलवा सकता है और यहाँ तक कि मुझे मेरे नागरिक अधिकारों से वंचित भी करा सकता है, किन्तु यदि वो यह सोचता भी है – और मैं कहना चाहूँगा कि वह और अनेक व्यक्ति ऐसा सोचते हैं – कि यह महानतम विपदाएँ है, तो मैं यह बता दूँ कि मैं ऐसा बिल्कुल भी नहीं मानता। मैं तो यह मानता हूँ कि किसी निरपराध व्यक्ति को मृत्युदण्ड देना, जो कि वो अब कर रहा है, सर्वाधिक जघन्य अपराध है और इसी कारण, महोदय, मैं अपने लिए याचना नहीं कर रहा, जैसा कि सोचा जा रहा होगा, अपितु आप सबके लिए याचना कर रहा हूँ, ताकि मैं आप सबको मुझे दण्डित करके ईश्वर के दिए हुए सर्वोत्तम उपहार का अपमान करने के जघन्य अपराध से बचा सकूँ। यदि आप मुझे मृत्यु देते हैं, तो मेरे स्थानापन्न के रूप में आप कोई भी दूसरा नहीं पाएँगे। हालाँकि यह आप सभी को हास्यास्पद प्रतीत होगा, किन्तु यह अक्षरशः सत्य है कि ईश्वर ने विशेष रूप से मुझे इस नगर के लिए नियुक्त किया है, जैसे कि कोई विराट नस्ली अश्व अपने विशाल आकार के कारण आलसी हो जाता है, तो उसे किसी कटखनी मक्खी के डंक के द्वारा चैतन्यता की ओर प्रेरित करने की आवश्यकता हो जाती है। मुझे ऐसा लगता है कि ईश्वर ने मुझे ऐसी ही किसी कटखनी मक्खी की भूमिका का निर्वाह करने के लिए इस नगर में नियुक्त किया है और इसीलिए मैं पूरे दिन कभी यहाँ, कभी वहाँ और कभी जाने कहाँ, बिना एक जगह स्थिर हुए, आप में से हर एक को उत्तेजित करते हुए, प्रेरित करते हुए व उद्वेलित करते हुए फिरता रहता हूँ। महोदय, आपको मेरे जैसा कोई भी अन्य व्यक्ति सरलतापूर्वक नहीं मिलेगा, अतः यदि आप मेरा सुझाव मानें, तो आपको मुझे मुक्त कर देना चाहिए। मुझे भी यह प्रतीत होता है कि कुछ ही समय पश्चात् आप अपनी निद्रा से जाग जाएँगे और अपने क्रोधावेश में एनाइटंस का सुझाव स्वीकार करते हुए अपने एक ही तमाचे के साथ मेरे जीवन का अंत कर देंगे और फिर आप सब पुनः अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक सोने के लिए चले जाएँगे, जब तक कि ईश्वर आप सबके लिए मेरे स्थान की पूर्ति करने के लिए किसी अन्य को भेजने की दया नहीं करते।

यदि आपको तनिक भी संदेह है कि क्या मैं वास्तव में ऐसा व्यक्ति हूँ जिसे स्वयं ईश्वर ने इस नगर में उपहारस्वरूप भेजा है, तो आप आत्म संतुष्टि के लिए इसे इस प्रकार देख सकते हैं। क्या आप सबको यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वाभाविक लगता है कि मुझे इतने वर्षों तक अपने व्यक्तिगत कार्यों की अवहेलना करते हुए और अपने परिवार की अवमानना करने की लज्जा को झेलते हुए भी एक पिता अथवा एक बड़े भाई के समान आप में हर एक से व्यक्तिगत रूप से मिल कर शुभत्व की ओर अपने विचारों को केन्द्रित करने की प्रेरणा प्रदान करने में स्वयं को व्यस्त रखना चाहिए था? यदि मुझे इस सबसे कोई आनंद मिला होता या फिर मेरे शुभाकांक्षा से युक्त सुझावों के लिए किसी ने मुझे शुल्क दिया होता, तों संभवतः मेरे ऐसे आचरण की कुछ व्याख्या की भी जा सकती थी। किन्तु जैसा कि आप स्वयं देख सकते हैं कि यद्यपि मेरे आरोपकर्ता निर्लज्जतापूर्वक अनेकानेक प्रकार के गम्भीर अपराधों से मुझे आरोपित कर रहे हैं, तथापि एक बार भी उनमें से किसी ने भी अपने साक्ष्य में यह कहने की धृष्टता नहीं की, कि मैंने कभी भी किसी से भी किसी प्रकार का शुल्क लिया हो या फिर शुल्क के लिए कोई आग्रह भी किया हो।

अपने कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए जो साक्ष्य में प्रस्तुत कर सकता हूँ और जो मेरे विचार में अत्यन्त विश्वसनीय है –वह है मेरी निर्धनता।

यह विचित्र प्रतीत हो सकता है कि मैं लोगों को इस प्रकार सुझाव देता फिरूँ एवं लोगों के व्यक्तिगत मामलों में हस्तक्षेप करूँ, परन्तु न तो कभी भी सार्वजनिक रूप से एक समूह के रूप में आप सबको उद्बोधित करूँ और न ही राज्य सम्बन्धी मुद्दों पर कोई सुझाव दूँ। उसका एकमात्र कारण वही है जिसे आप सबने अनेक अवसरों पर मुझे कहते हुए पाया है – और वह यह है कि मैं दैवीय अथवा अतिमानवीय अनुभवों का प्राप्तकर्त्ता रहा हूँ और जिसे मिलेटस ने अपने आरोप में एक आपराधिक कृत्य माना है। यह मेरे शिशुकाल से ही आरम्भ हो गया था – यह एक प्रकार का अन्तरात्मा का स्वर है जो मुझ तक आता है, और जब भी वह मुझे सुनाई देता है तो जो कुछ भी मैं करने जा रहा हूँ उससे वह मुझे रोकता है और मुझे कभी भी वह करने के लिए प्रेरित नहीं करता। यही वह कारण है जो मुझे सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने से रोकता है और मेरे विचार से यह एक बहुत अच्छी बात है क्योंकि महोदय, आप निश्चय ही यह मानते होंगे कि यदि मैंने पहले भी कभी राजनीति में आने का प्रयास किया होता तो बिना किसी भी प्रकार स्वयं को या आप सबको लाभान्वित किये ही मैंने बहुत पहले अपना जीवन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

खो दिया होता। कृपया मेरे सत्यवादन से आघात का अनुभव न करें। इस पृथ्वी पर ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं हो सकता जो अपनी अन्तरात्मा के स्वर को सुनकर आप सबका या फिर किसी भी अन्य संगठित प्रजातंत्र का विरोध करे और राज्य में होने वाली गलतियों तथा अवैधानिकताओं को रोकने का प्रयास करे और संभवतः अपने जीवन की रक्षा भी कर पाए। यदि न्याय का कोई भी वास्तविक निष्ठावान व्यक्ति अल्पकाल हेतु भी अपने जीवन को बचाकर रखना चाहता है तो निश्चित रूप से मात्र व्यक्तिगत जीवन तक ही स्वयं को सीमित रखना चाहिये एवं राजनीतिक जीवन का परित्याग कर देना चाहिये।

मैंने जो कुछ भी कहा है उसके लिए मैं पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करूँगा– कोई सिद्धान्त नहीं बल्कि कुछ ऐसा जिसे आप बेहतर ढंग से समझ सकें – और वो हैं तथ्य। तो सुनिये जब मैं अपने वास्तविक अनुभवों को आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ जिससे आपको यह ज्ञात हो सके कि मैं मृत्य के भय से किसी भी आधिकारिक सत्ता के समक्ष अनुचित समर्पण नहीं करूँगा, तो मैं अपने जीवन के मूल्य पर भी विरोध करता रहूंगा। यह एक ऐसा ही सामान्य विवरण प्रतीत होता है जैसा कि आप अक्सर न्यायालयों में सुनते रहते होंगे, किन्तु यह नितान्त सत्य है।

न्यायसभा के सम्मानित जनों! नगर में एकमात्र पद मैंने तब संभाला था जब मुझे परिषद में चयनित किया गया था। कुछ यूं हुआ कि जिस समय आप लोगों ने यह तय किया था कि उन दस अधिनायकों को एक साथ विधिक रूप से दण्डित किया जाना चाहिए, जो नौसैनिक गतिविधियों में गुम हो गए लोगों को ढूँढ कर बचाने में असफल रहे थे, जो कि पूर्णतः अवैधानिक निर्णय था, जैसा कि आपने बाद में स्वयं ही स्वीकार किया था, उस समय मात्र हमारा ही समूह ऐसा था जो कि कार्यपालिका की भूमिका का निर्वाह कर रहा था। इस अवसर पर मात्र मैं ही कार्यपालिका का एकमात्र ऐसा सदस्य था, जिसने जोर देकर यह कहा था कि आपको ऐसा असंवैधानिक कार्य नहीं करना चाहिए और इस प्रस्ताव के विरोध में अपना मत दिया था। यद्यपि आपके नेता मेरी निंदा करते हुए मुझे बन्दी बनाने को तत्पर थे और आप सब भी ऊँचे स्वरों में उन्हें प्रोत्साहित कर रहे थे, तब भी मैंने यह सोचा कि न्याय और विधिसम्मत पक्ष में खड़ा होना ही मेरा एकमात्र कर्तव्य है, न कि कारागार या मृत्यु के भय से आपके अनुचित निर्णय का समर्थन करते हुए आपके पक्ष में खड़ा होना।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह तब हुआ था जब हम सब प्रजातंत्र के आधीन थे किन्तु इसके उपरान्त जब कुलीनतंत्र ने सत्ता प्राप्त की तो उसके तीस आयुक्तों ने मुझे और चार अन्य लोगों को एक वृत्ताकार कक्ष में आमंत्रित किया और हमें सलामीज़ के लियोन को मृत्युदण्ड देने के लिए उसके घर से लाने का आदेश दिया। निश्चय ही यह उन अनेकानेक अवसरों में से एक रहा होगा, जब ऐसे आदेश दे दिये जाते हैं, जिनका एकमात्र उद्देंश्य अधिकाधिक लोगों को अपने दुष्कृत्यों में जोड़ना ही होता है। इस अवसर पर भी मैंने पुनः अपने वचनों से ही नहीं, अपितु अपने कर्म से भी यह प्रमाणित किया कि मृत्यु से मुझे कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता और यदि यह बहुत अधिक सबल वक्तव्य प्रतीत होता हो, तो मैं यह कहना चाहूँगा कि मेरे लिए दुनिया में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यही है कि मैं किसी भी अनुचित दुष्कृत्य में सहभागी न बनूं। वह सरकार अत्यन्त शक्तिशाली होने के बावजूद मुझे अनुचित कार्य करने के लिए भयभीत नहीं कर सकी और जब हम उस वृत्ताकार कक्ष के बाहर निकले, तो जहाँ बाकी चार लोग लियोन को बन्दी बनाने के लिए सलामीज़ चले गये, वहीं मैं अपने घर चला गया। यदि कुछ ही समय पश्चात् वह सरकार गिर न गयी होती तो सम्भवतः इस अवज्ञा के लिए मुझे मृत्युदण्ड दे दिया जाता। यहाँ ऐसे बहुत सारे लोग हैं जो मेरे इन वक्तव्यों को प्रमाणित कर सकते हैं।

क्या आपको ऐसा लगता है कि यदि मैंने सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में प्रवेश कर लिया होता और उस क्षेत्र में भी एक सम्माननीय व्यक्ति के लिए सम्मत आचरण का निर्वहन किया होता, सदैव उचित का पक्ष लिया होता तथा अन्तरात्मा के स्वर के अनुरूप इस उद्देश्य को ही सर्वोपरि माना होता, तो क्या मैं इतना लम्बा जीवन जी सकता था ? ऐसा कदापि सम्भव नहीं था महोदय, और न ही किसी भी अन्य व्यक्ति के लिए ऐसा सम्भव हो सकता है। आप यह पायेंगे कि अपने सार्वजनिक दायित्वो की पूर्ति में और साथ ही अपने व्यक्तिगत आचरण में भी मैंने सम्पूर्ण जीवन निरन्तर एक–सा ही कार्य किया है। मैंने कभी भी कोई ऐसा कार्य नहीं किया जो किसी भी व्यक्ति के संदर्भ में न्याय के अनुरूप न रहा हो और यह उन व्यक्तियों के लिए भी उतना ही सत्य है, जिन्हें कुछ लोग बदनीयति से मेरा शिष्य मानते हैं। मैंने कभी भी किसी का शिक्षक होने का दावा नहीं किया, परन्तु यदि कोई व्यक्ति, चाहे वह युवा हो अथवा वृद्ध, मुझे अपने नितांत व्यक्तिगत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उद्देश्य के लिए परिचर्चा करते हुए सुनना चाहता है तो न तो मैं उसे इस अवसर से वंचित करता हूँ, न तो उससे बात करने का कोई शुल्क लेता हूँ और न ही बिना शुल्क लिए बात करने से कभी भी मना करता हूँ। मैं, धनी अथवा निर्धन, सभी के प्रश्नों के उत्तर देने के लिए सदैव तत्पर रहता हूँ और साथ ही यदि कोई मुझे सुनने के पश्चात् मेरे प्रश्नों का उत्तर देना चाहे, तो मैं उसे भी समान रूप से सुनने के लिए तत्पर रहता हूँ। चूँकि मैं किसी को भी शिक्षित करने का वायदा नहीं करता इसलिए यदि इनमें से कोई भी व्यक्ति भला या बुरा नागरिक बने, तो इसके लिए मुझे कदापि उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता; और यदि फिर भी कोई ऐसा कहता है कि उसने मुझसे व्यक्तिगत रूप में कुछ ऐसा सुना या सीखा है, जो अन्य सभी के लिए उपलब्ध नहीं था, तो आप इस बात पर पूरी तरह से निश्चिन्त हो सकते हैं कि वह सत्य नहीं बोल रहा है।

परन्तु ऐसा क्यों है कि कुछ लोग अपना अधिकाधिक समय मेरे साथ ही बिताना चाहते हैं ? महोदय! इसका कारण वही है जो मैंने पहले ही आपको स्पष्ट रूप से बताया है। इसका कारण वस्तुतः यही है कि वे लोग मुझे उन अन्य व्यक्तियों का परीक्षण करते देख–सुन कर आनंदित होते हैं, जो यह सोचते तो हैं कि वे बुद्धिमान हैं किन्तु वास्तव में वे हैं नहीं – यह इस अनुभव का एक मनोरंजक पक्ष है। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है कि मैंने इस दायित्व को स्वयं ईश्वर के द्वारा प्रदत्त उन आदेशों के अनुपालन के रूप में स्वीकार किया है जो कभी भविष्यवाणी के रूप में, कभी स्वप्न के रूप में और कभी ऐसे ही किसी अन्य माध्यम से मनुष्य को उसके कर्तव्य का बोध कराते हैं। महोदय, यह एक सत्य वचन है जिसे सरलतापूर्वक सत्यापित किया जा सकता है। यदि यह एक वास्तविक तथ्य है कि मैं युवाओं को भ्रष्ट करता हूँ और कुछ अन्य लोगों को भ्रष्ट करने में सफल भी हो गया हूँ और यदि यह भी एक वास्तविक तथ्य है कि उनमें से कुछ बड़े होकर यह जान गये हैं कि उनके युवाकाल में उन्हें कभी बुरे सुझाव दिए थे, तो निश्चय ही उन्हें अब आगे आना चाहिए और उसके लिए उन्हें मुझे निन्दित व दण्डित करना चाहिए। और यदि वे स्वयं ऐसा न करना चाहें, तो भी आप यह अपेक्षा तो रख ही सकते हैं, कि उनमें से कुछ के परिवार – उनके पिता; भाई व अन्य करीबी परिजनों को यह स्मरण होगा कि उनके प्रिय रक्तसम्बन्धी को मेरे द्वारा कष्ट पहुँचाया गया था। जैसा कि मैं देख सकता हूँ कि उनमें से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनेक निश्चित रूप से न्यायालय में प्रवेश कर चुके हैं – उनमे से पहले तो वहाँ बैठे क्रीतो हैं, जो कि मेरे समकालीन और निकट के पड़ोसी हैं और साथ ही इस युवा क्रीतोब्यूलस के पिता भी हैं, और वहाँ पर बैठे स्फेटस के लाइसानियस जो कि एशिनस के पिता हैं और उनके बाद वहाँ बैठे सिफेसस के एण्टीफोन, जो कि एपिज़ेनीज के पिता हैं। उनके पीछे वे सभी हैं जिनके भाई मेरे समुदाय के सदस्य रहे – निकोस्ट्रेटस, जो कि थियोजोटाटस का पुत्र और थियोडोटस का भाई है, किन्तु थियोडोटस की मृत्यु हो चुकी है इसलिए वे अपने भाई के लिए याचिका नहीं प्रस्तुत कर सकता है, और यहाँ पर बैठा पारालोस जो कि डीमोडोकस का पुत्र है और जिसका भाई थीजेस है। और यहाँ पर एडीमेंटस है, जो कि एरिस्टॉन का पुत्र है, जिसका भाई प्लेटो वहाँ पर है, और इयान्तोडोरस जिसका भाई अपोलोडोरस यहाँ इस तरफ मौजूद है। मैं इनके अतिरिक्त अनेक अन्य के नाम भी गिना सकता हूँ और जिनमें से कुछ को मिलेटस निश्चित रूप से अपने भाषण के दौरान साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत कर सकता था। यदि वह उस समय ऐसा करना भूल गया था तो वह अब ऐसा कर सकता है – मैं उसके लिए सहर्ष रास्ता देने को तैयार हूँ। उसे यह बताने दीजिए कि क्या उसके पास वास्तव में प्रस्तुत करने योग्य कुछ भी ऐसा प्रमाण है?

किन्तु महोदय, इसके ठीक विपरीत आप यह पायेंगे कि वे सब मेरी सहायता के लिए तत्पर हैं – जबकि मिलेटस व एनाइटस के अनुसार मैं ही उनके निकटतम् प्रिय सम्बन्धियों को भ्रष्ट करने वाला दुष्टतम मेधावी व्यक्ति हूँ।

मेरे भ्रष्ट करने वाले प्रभाव के वास्तविक शिकार तो मेरी सहायता हेतु सम्भवतः क्षम्य हो सकते हैं किन्तु उनके परिपक्व आयु के वे सम्बन्धी जो भ्रष्ट नहीं हुए हैं, उनके पास मेरी सहायता करने का इसके अतिरिक्त और क्या सर्वोचित कारण हो सकता है कि उन्हें यह भली–भाँति ज्ञात है कि मिलेटस झूठ बोल रहा है और मैं सच।

महोदय, यही मुझे अपनी संरक्षा में कहना है एवं साथ में समान प्रभाव के लिए मैं कुछ और भी कहना चाहूँगा। यह सम्भव है कि आप में से कोई अपने संदर्भ का स्मरण करते हुए इस बात पर खीझ रहा हो कि जब उस पर अपेक्षाकृत कम गम्भीर आरोपों के साथ अभियोग लगाया गया था तब वह न्यायसभा के भद्र सदस्यों के सम्मुख अश्रुपूरित क्षमा याचना कर रहा था एवं अधिकाधिक सहानुभूति अर्जित करने के लिए अपने दूधमुँहे बच्चों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और अनेक मित्रों व सम्बन्धियों तक को न्यायालय में ले आया था, और यद्यपि जैसा कि स्पष्ट है, मैं सर्वाधिक खतरे की स्थिति में होते हुए भी इसके विपरीत ऐसा कुछ भी नहीं करने वाला। यह सम्भव है कि इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आप में से कोई मेरे विरुद्ध पूर्वाग्रह से ग्रसित हो जाय एवं इस खीझ में मेरे विरुद्ध मत दे दे।

मैं ऐसी अपेक्षा नहीं करता किन्तु इसकी सम्भावना तो है कि यदि आप में से कोई इस प्रकार प्रवृत्त हो तो मैं उससे न्यायोचित रूप से मात्र यही कहना चाहूँगा कि आदरणीय महोदय! निश्चय ही मेरे भी कुछ सम्बन्धी हैं – और हाँ महोदय, मेरे बेटे भी हैं और वह भी तीन, जिनमें से एक वयस्क हो चुका है जबकि अन्य दो अभी शिशु ही हैं – पर ऐसी स्थिति में भी मैं उन्हें इसलिए यहाँ नहीं लाने वाला ताकि वे आपसे अनुनय करें कि मैं छोड़ दिया जाऊँ।

मैं भला ऐसा कोई भी कार्य क्यों नहीं करना चाहता? ये किसी विकृति के कारण नहीं महोदय और न ही आपके प्रति कोई अनादर के कारण है। इसका इससे भी कोई सम्बन्ध नही है कि मैं मृत्यु को समक्ष पाकर भी बहादुर हूँ या नहीं। विचारणीय बिन्दु यह है कि अपने मान के लिए, आपके मान के लिए एवं समस्त राज्य के मान के लिए मैं मानता हूँ कि यह सर्वथा अनुचित होगा कि मैं इस आयु में एवं इस प्रतिष्ठा के साथ मैं ऐसी कोई भी विधि अपनाऊँ – चाहे वह सत्य हो अथवा असत्य। वैसे भी यह विचार तो रखा ही जाता है कि सुकरात सामान्य मानवजाति से भिन्न हैं। यह अत्यन्त ही अपमानजनक होगा यदि आप सब जो कि अपनी विद्वता, साहस या किसी अन्य सद्‌गुण हेतु विशिष्ट माने जाते हैं, वे इस प्रकार के कार्य करें। मैंने अक्सर देखा है कि इस प्रकार के कुछ व्यक्ति हैं जो अपनी उच्च प्रतिष्ठा के बावजूद स्वयं पर अभियोग लगने पर अस्वाभाविक दूरियों तक चले जाते हैं, जिससे यही स्पष्ट होता है कि वे जीवन खोने को अत्यधिक भयावह मानते हैं – मानो यदि आप उन्हें मृत्युदण्ड न दें तो वे अमर हो जाएंगे। मेरा मानना है कि ऐसे व्यक्ति हमारे नगर को अपमानित करते हैं। ऐसे में कोई भी विदेशी आगन्तुक यह मानने के लिए पूर्णतः क्षम्य होंगे कि एथेंस के पुरुषत्व के वे सर्वोत्कृष्ट उदाहरण जिन्हें उनके सहनागरिकों ने अनेक गुणों के कारण अपने ऊपर राज्य करने और उच्च पदों पर आसीन होने का अधिकार प्रदान किया है, वे किसी भी प्रकार स्त्रियों से बेहतर नहीं। इसलिए हे भद्रजनों, यदि आप में तनिक भी आत्मसम्मान है तो आप इन विधियों पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं उतरेंगे और यदि हममें से कोई ऐसा करे भी तो आप उसे समर्थन प्रदान नहीं करेंगे। बल्कि इसके विपरीत आपको यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि जो भी कोई इस प्रकार के संवेदनात्मक दृश्यों के द्वारा हमारे नगर को हास्य का पात्र बनाता है, वह व्यक्ति निश्चित रूप से दण्ड का पात्र है बजाय उसके जो सम्मानजनक मौन बनाए रखे।

किन्तु महोदय, इन सब प्रतीतियों के प्रश्नों के अतिरिक्त, मैं नहीं मानता कि किसी भी व्यक्ति के लिए यह उचित है कि वह न्यायसभा के सम्मुख याचना करे या इस प्रकार की विधियों द्वारा स्वयं को मुक्त करा ले। उसे न्यायसभा को वास्तविक तथ्यों की पूर्ण जानकारी देनी चाहिए एवं तर्कों द्वारा उन्हें संतुष्ट करना चाहिए। क्योंकि न्यायसभा किसी को लाभ पहुँचाने के लिए न्याय नहीं करती अपितु यह निर्णय करती है कि न्याय किस ओर है और जो शपथ उन्होंने ली है, वह अपनी इच्छानुसार किसी को लाभान्वित करने हेतु नहीं वरन् वैधानिक एवं न्यायायोचित निर्णय लेने की है। इससे यह आपादित होता है कि अन्याय की आदत न तो हम आपमें एवं न ही आप स्वयं में विकसित होने दें; क्योंकि यह हम दोनों के लिए अनुचित होगा। इस कारण, महोदय, आपको मुझसे यह अपेक्षा बिल्कुल नहीं करनी चाहिए कि मैं आपके समक्ष ऐसा व्यवहार करूँगा जिसे मैं न तो प्रतिष्ठा के अनुरूप, न ही नैतिक और न ही अपने धार्मिक कर्तव्य के साथ सुसंगत पाता हूँ। और इन सबसे ऊपर आपको मुझसे ऐसी अपेक्षा तब तो बिल्कुल भी नहीं करनी चाहिए जबकि मै मिलेटस के द्वारा दुष्कृत्य के लिए आरोपित हूँ। निश्चय ही यह स्वतः स्पष्ट है कि यदि मैं आपके ऊपर अपने अनुनय के द्वारा प्रभाव डालने का प्रयास करूँ ताकि आप अपनी एकमात्र शपथ से विमुख हो जाएं, तो मैं आपको धर्म के प्रति भर्त्सना का भाव ही सिखाऊँगा। और अपनी ऐसी संरक्षा के द्वारा मैं स्वयं को ही इस आरोप का पात्र बना दूँगा कि मेरे पास कोई भी धार्मिक विश्वास नहीं है। किन्तु यह बात सत्य से कोसों दूर है। मेरे पास विश्वास है महोदय और यह विश्वास मेरे आरोपकर्त्ताओं से कहीं अधिक दृढ़ है। और मैं आप पर व स्वयं ईश्वर पर यह छोड़ता हूँ कि आप ऐसा निर्णय लें जो न सिर्फ मेरे लिये बल्कि आपके लिए भी सर्वश्रेष्ठ हो।

महोदय! ऐसे बहुत से कारण हैं जिनकी वजह से मैं इस निष्कर्ष से चिन्तित नहीं हूँ – मेरा आशय आपके द्वारा मुझे आरोपित करन से है – परन्तु इसका प्रमुख कारण यह है कि ऐसा निष्कर्ष अनपेक्षित नहीं है। किन्तु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जो मुझे वास्तव में चकित कर रहा है, वह है दोनों पक्षों में दिये गये मतों की संख्या। मैंने कभी भी यह अपेक्षा नहीं की थी कि इस मतदान का परिणाम इतना समीपवर्ती होगा, किन्तु अब ऐसा प्रतीत होता है कि यदि मात्र तीस मत दूसरे पक्ष में चले गये होते तो मैं मुक्त हो गया होता। इस परिस्थिति में भी मेरा मानना है कि जहाँ तक मिलेटस का प्रश्न है, मैं मुक्त हो गया हूँ, और न केवल इतना बल्कि कोई भी यह देख सकता है कि यदि एनाइटस एवं लाइकॉन मुझे आरोपित करने के लिए स्वयं प्रस्तुत न हुए होते तो वास्तव में मिलेटस समग्र मतों का पाँचवां हिस्सा भी न प्राप्त कर पाता और इस कारण अपने एक हजार दराक्मा भी गवाँ चुका होता।

तथापि हमें इस तथ्य का सामना तों करना ही होगा कि वह मेरे लिए मृत्युदण्ड की मांग कर रहा है। बहुत अच्छे। मैं इसके विकल्पस्वरूप क्या दण्ड प्रस्तावित कर सकता हूँ? निश्चय ही वह पर्याप्त होना चाहिए। जो कुछ भी मैंने किया है, उसे ध्यान में रखते हुए मुझे क्या मुआवजा देना चाहिए?

मैंने कभी भी एक सामान्य और शान्त जीवन नहीं जिया। मैंने कभी भी उन वस्तुओं की परवाह नहीं की जिनकी लालसा सामान्य जन करते हैं– जैसे कि धन अर्जित करना, आरामदायक घर बनाना, उच्च सैनिक अथवा नागरिक पद प्राप्त करना एवं अन्य सभी गतिविधियाँ जैसे कि राजनैतिक नियुक्तियाँ, गुप्त सभाएँ और दलगत संगठन जो कि हमारे नगर में चलते ही रहते हैं। मुझे लगता था कि मैं अपने सिद्धान्तों पर इतना अधिक दृढ़ हूँ कि यदि मैं इनमें से किसी में भी जुड़ता हूँ तों मैं इनमें चल नहीं पाऊँगा। इस कारण कुछ ऐसा करने की बजाय जो न आपके लिए और न ही मेरे लिए लाभकारी होता, मैंने समाज से इतर व्यक्तिगत रूप से वह करने की ठानी जो मेरे अनुसार सर्वोत्तम सेवा है। मैंने आप सबको निरन्तर यह प्रेरणा देने का प्रयास किया कि आप मानसिक एवं नैतिक शुभत्व को सदैव ही व्यवहारिक लाभ से अधिक महत्त्वपूर्ण माने तथा सामान्यतः राज्य के सन्दर्भ में अपने लाभ की अपेक्षा शुभत्व को अधिक महत्त्व दें। इस प्रकार का व्यवहार करने के लिए मुझे क्या प्राप्त होना चाहिए? यदि मुझे सुझाव देने के लिए बाध्य किया जाये तो मैं कहूँगा कि कदाचित् कुछ पुरस्कार और विशेषकर ऐसा पुरस्कार जो मेरे लिए सर्वथा उपयुक्त हो। तो समाज को लाभ पहुँचाने वाले एक निर्धन व्यक्ति, जिसे इतने आराम की आवश्यकता है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि वह आप सबको निरन्तर नैतिक सम्बल प्रदान कर सके, के लिए सर्वथा उपयुक्त क्या हो सकता है ? ऐसे व्यक्ति के लिए इससे अधिक उपयुक्त और कुछ नहीं हो सकता कि उसके लिए राज्य के द्वारा निःशुल्क जीवनयापन की व्यवस्था कर दी जाए।

क्योंकि वह ओलम्पिया की किसी भी दौर के विजेता की अपेक्षा कहीं अधिक सुपात्र है, चाहे वह विजेता एक अश्व से जीता हो, युगल से जीता हो और या फिर चार के समूह से। महोदय! यह लोग आपको विजय का भान मात्र कराते हैं, जबकि मैं आपको वास्तविकता से परिचित कराता हूँ; इन्हें अपने जीवनयापन के लिए राज्य के द्वारा सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं है, जबकि मुझे है। तों यदि मैं न्याय के विधान के अनुरूप सर्वाधिक उपयुक्त दण्ड का सुझाव दूँ तो वह राज्य के द्वारा निःशुल्क जीवनयापन के प्रबन्ध कर देने का सुझाव ही होगा।

जब मैं ऐसा कहता हूँ तो सम्भवतः आपको ऐसा प्रतीत हो सकता है कि मैं यहाँ पर सप्रयास विकृति दर्शा रहा हूँ, जैसा कि मैंने स्वयं की संरक्षा के लिए कई लोगों द्वारा सहानुभूति और भावनात्मक याचना प्रदर्शित करने के संदर्भ में पहले ही कहा था। परन्तु महोदय, ऐसा बिल्कुल भी नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि मैं पूर्णतः आश्वस्त हूँ कि मैंने कभी भी जानबूझकर किसी के प्रति बुरा नहीं किया है, यद्यपि मैं आपको इसका विश्वास नहीं दिला सकता क्योंकि हमारे पास इस परिचर्चा के लिए बहुत कम समय रहा है। यदि यह आपकी प्रथा रही होती, जैसा कि अन्य राष्ट्रों में होता है, जहाँ मृत्युदण्ड के अभियोगों के परीक्षण के लिए एक नहीं अपितु कई दिन दिये जाते हैं, तो सम्भवतः मैं आपको संतुष्ट करने में सफल हो जाता, किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में इस अल्पावधि में इन गम्भीर आरोपों का निपटारा करना कदापि सहज नहीं है। तो यह मानतें हुए कि मैं किसी का बुरा नहीं करता हूँ, मुझसे ऐसी उम्मीद कदापि नहीं की जा सकती कि मैं स्वयं को दण्ड का पात्र स्वीकार कर अथवा मृत्युदण्ड के समतुल्य किसी अन्य दण्ड का सुझाव देकर स्वयं का ही बुरा करूँगा। मैं ऐसा भला क्यों करूँगा? क्या मिलेटस के द्वारा प्रस्तावित मृत्युदण्ड के भय से? जबकि मैंने इस सन्दर्भ में पहले ही कहा था कि मैं नहीं जानता कि मृत्युदण्ड मेरे लिए अच्छा होगा या बुरा। क्या आपको ऐसा लगता है कि इस आरोप के विरुद्ध प्रस्ताव देकर मैं अपने लिए वह चुनूँगा जिसे मैं भली-भांति जानता हूँ कि वह बुरा ही होगा? क्या मैं कारावास का सुझाव दूँ? किन्तु मैं कारावास में उन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अधिकारियों के आधीन रहकर जीवन क्यों बिताऊँ जो स्वयं ही विधि के द्वारा समय–समय पर नियुक्त किये जाते हैं ? क्या दण्डस्वरूप कोई शुल्क और उसे न चुका पाने की अवधि तक कारावास का सुझाव दूँ? मेरी परिस्थितियों में इसका परिणाम वही रहेगा महोदय, क्योंकि मेरे पास शुल्क देने के लिए धन है ही नहीं। तो क्या मैं नगर से निष्क्रमण का सुझाव दूँ? आप सब सम्भवतः इस सुझाव को सहजता से स्वीकार कर लें।

किन्तु महोदय! ऐसा करने के लिए मुझे जीवन से अगाध मोह रखने वाला बनना पड़ेगा। मेरे सहनागरिकों! मैं इतना अंधा नहीं हूँ कि मैं यह भी नं देख पाऊँ कि आप सभी मेरी परिचर्चा और संवादों के कारण अपने धैर्य के अन्तिम पड़ाव पर पहुंच चुके हैं। आपको यह परिचर्चा अत्यन्त कष्टप्रद और परेशान करने वाली प्रतीत हो रही है और आप इससे मुक्त होना चाहते हैं। किन्तु क्या कोई भी अन्य व्यक्ति सहजतापूर्वक इन्हें स्वीकार कर पायेगा? यह किंचित भी सम्भव प्रतीत नहीं होता महोदय। यदि मैं इस आयु में इस देश को छोड़कर अलग–अलग नगरों में अपना शेष जीवन व्यतीत करता और हर बार निष्कासित किया जाता, तो मेरे लिये यह एक अच्छा जीवन होता। मुझे यह भली–भांति ज्ञात है कि मैं जहाँ भी जाऊँगा, वहाँ के युवा मेरी परिचर्चाओं को उसी प्रकार सुनने आयेंगे, जिस प्रकार वे यहाँ सुनते हैं और यदि मैं उन्हें स्वयं से दूर करने का प्रयास करता हूँ, तो वे अपने बुजुर्गों के द्वारा मुझे निष्कासित करवा देंगे और यदि मैं ऐसा नहीं करता हूँ तो भी उनके पिता व अन्य सम्बन्धी अपनी संतानों के भले के लिए स्वयं ही मुझे निष्कासित कर देंगे।

यह भी संभव है कि कोई कहे कि सुकरात! हमें त्यागने के पश्चात् तुम अपना शेष जीवन 'अपने काम–से–काम रखते हुए' चुपचाप भी तो व्यतीत कर सकते हो।

किन्तु यह बात आप में से कुछ को समझाना सर्वाधिक दुष्कर कार्य होगा, यदि मैं कहूँ कि यह स्वयं ईश्वर के आदेश की स्पष्ट अवज्ञा होगी और यही कारण है कि मैं 'अपने काम–से–काम' नहीं रख सकता; आप यह विश्वास ही नहीं करेंगे कि ऐसा कहते हुए मैं तनिक भी गंभीर हूँ। यदि इसके विपरीत मैं यह बताऊँ कि किसी भी दिन को बिना शुभत्व व ऐसे अन्य विषयों की चर्चा किये न गुजर जाने देना, जिनके बारे में आप मुझे व दूसरों को चर्चा व परीक्षा करते हुए देखते व सुनते हैं; तो आप इस पर और भी कम विश्वास करेंगे तथापि ऐसा ही है महोदय, यद्यपि मैं यह स्वीकार करता हूँ कि आपको

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संतुष्ट करना दुसाध्य है। इसके अतिरिक्त मैं इस बात के लिए अभ्यस्त नहीं हूँ कि मुझे दण्ड का पात्र समझा जाय। यदि मेरे पास धन होता तो मैं दण्डस्वरूप क्षतिपूर्ति के लिए धन देने का सुझाव प्रस्तुत करता क्योंकि इससे मुझे कोई भी हानि नहीं होती। पर जैसी परिस्थितियाँ हैं, मैं ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि मेरे पास धन है ही नहीं। ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि आप दण्डस्वरूप क्षतिपूर्ति के लिए शुल्क की कोई ऐसी मात्रा नियत करें, जो मैं दे सकूँ। मुझे लगता है कि मैं सम्भवतः एक मीना का शुल्क देने में समर्थ हूँ। अतः मैं इस मात्रा का शुल्क देने का प्रस्ताव देता हूँ।

कृपया एक क्षण रुकिए महोदय। यहाँ पर प्लेटो उपस्थित हैं और साथ ही क्रीतो, क्रीतोब्यूलस और अपोलोडोरस भी विद्यमान हैं जो यह चाहते हैं कि मैं अपनी सुरक्षा के लिए क्षतिपूर्ति स्वरूप तीस मीना का प्रस्ताव रखूँ। तो फिर ठीक है। मैं इस शुल्क को स्वीकार करता हूँ और आप इन भद्रजनों पर भुगतान के लिए विश्वास कर सकते हैं।

तो महोदय, इस छोटे से कार्य के लिए आपको प्रशस्ति प्राप्त होने वाली है और साथ ही उन लोगों से दोषारोपण भी प्राप्त होने वाला है, जो इस नगर में अव्यवस्था चाहते हैं और जो 'उस बुद्धिमान व्यक्ति' को मृत्युदण्ड देना चाहते हैं, जिसका नाम सुकरात है। क्योंकि वे कहेंगे कि मैं बुद्धिमान हूँ जबकि मैं नहीं हूँ और इस प्रकार ये लोग आपमें भी गलती खोजने का प्रयास करेंगे। यदि आपने थोडी प्रतीक्षा कर ली होती तो आपको स्वयं प्रकृति के द्वारा ही वह प्राप्त हो गया होता, जिसकी आप आकांक्षा करते हैं। आप देख सकते हैं कि मैं जीवन के उस स्थान पर हूँ जहाँ से मृत्यु अत्यन्त निकट है। मैं यह आप सबसे नहीं कह रहा हूँ बल्कि उनसे कह रहा हूँ जिन्होंने मेरे वध के लिए अपने मत दिये हैं। मुझे उनसे और भी कुछ कहना है।

आप में से निश्चय ही बहुत से लोग यह सोचते होंगे कि मुझें यह दण्ड तर्कों के अभाव के कारण मिला है, जिनका प्रयोग मुझे कर लेना चाहिए था, यदि मैं ऐसा मानता कि मुझे अपनी मुक्ति के लिए कुछ भी अनकहा या अनकिया नहीं छोड़ना चाहिए। परन्तु यह सत्य से कोसों दूर है। मेरी वर्तमान परिस्थिंति का कारण तर्कों का अभाव नही अपितु दुस्साहस और धृष्ठता की कमी रही है। और यह सत्य है कि मैंने कभी भी आपके समक्ष इस प्रकार सम्बोधन नहीं किया जो आपको आनंदित करता। आप चाहते थे कि मैं रोऊँ और आर्तनाद करूँ, हर वह कार्य करूँ जिसके लिए मैं स्वयं को पात्र नहीं समझता किन्तु जिसे दूसरों से सुनने के आप अभ्यस्त हो चुके हैं। किन्तु मैं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं सोचता कि इस प्रकार की दयनीयता में मुझे खुद को मात्र इस कारण छिपाना चाहिए क्योंकि मैं खतरे में हूँ और मैं इस प्रकार स्वयं का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए कोई भी पश्चाताप नहीं करता। मैं इस प्रकार जीने की अपेक्षा मरना कहीं अधिक पसंद करूँगा। युद्ध के ही समान न्यायालय में भी मुझे या किसी भी व्यक्ति को कुछ भी करना उचित नहीं हो जाता। युद्ध में यह स्पष्ट होता है कि यदि आप अपने शस्त्र त्याग दें और शत्रु के समक्ष उसकी दया के लिए प्रस्तुत हो जायें, तो आप मृत्यु से बच सकते हैं। और इसी प्रकार यदि आप पूर्णतः सिद्धान्तहीन हो सकें, ता किसी भी खतरे की परिस्थिति से बचाव के लिए अनेकानेक तरीके हो सकते हैं। किन्तु मेरा मानना है कि यहाँ पर कठिनाई मृत्यु से बचने की नहीं है अपितु वास्तविक कठिनाई तो अनुचित कर्म से बचने की है और यह पलायन नहीं है। वर्तमान परिस्थितियों में मैं, एक मद्धम गति वाले वृद्ध पुरुष के समान हूँ, जो कि दो व्यक्तियों में से धीमे चलने वाले से पिछड़ गया है, जबकि मेरे आरोपकर्ता जो कि अधिक चतुर व त्वरित हैं, वे अपने से अधिक गतिशील के द्वारा पछाड़ दिये गये हैं। जब मैं इस न्यायालय से निकलूँगा तो मैं आपके द्वारा मृत्युदण्ड के आदेश को प्राप्त कर चुका होऊँगा किन्तु वे यहाँ से मात्र अपनी दुष्टता व कमतरी के कारण स्वयं सत्य के द्वारा दण्ड प्राप्त कर चुके होंगे। और उन्हें अपने दण्ड को उसी प्रकार स्वीकार करना चाहिए जैसा कि मैं कर रहा हूँ। निश्चय ही ऐसा ही होना था और मैं यह मानता हूँ कि यह निर्णय ही सर्वोचित निर्णय है।

यह सब कहने के पश्चात् मैं उन सबके लिए, जिन्होंने मेरे विरुद्ध मत दिया था, एक भविष्यवाणी प्रस्तुत करने के लिए प्रेरणा की अनुभूति कर रहा हूँ क्योंकि मैं अब ऐसे बिन्दु पर खड़ा हूँ, जहाँ पर भविष्यवाणी करने की क्षमता का उपहार स्वाभाविक रूप से लोगों को उपलब्ध हो जाता है – और यह बिन्दु स्वयं मृत्यु का बिन्दु है। मेरे वधिको! मैं तुम्हें यह बताना चाहता हूँ कि जैसे ही मेरी मृत्यु होगी वैसे ही मेरी प्रतिहिंसा का श्राप तुम सबको भी मिलेगा और वह मेरी मृत्यु से कहीं अधिक कष्टदायक दण्ड होगा। तुम सब यह विश्वास करते हुए मुझ पर मृत्यु को आरोपित कर रहे हो कि इससे तुम अपने चरित्र को किसी भी प्रकार की आलोचना से मुक्त कर लोगे। किन्तु मैं यह मानता हूँ कि निष्कर्ष इसके सर्वथा विपरीत होगा। तुम्हें और अधिक आलोचकों का सामना करना होगा, वे आलोचक जिन्हें तुम्हारी जानकारी के बिना ही मैंने अब तक रोका हुआ था और चूँकि वे युवा हैं इसलिए वे तुम पर और अधिक कठोर होगें और वे तुम्हें और अधिक परेशान करेंगे। यदि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तुम सबे अपने जीवन में अपनाए अनुचित मार्ग की निन्दा को निन्दकों की मृत्यु के द्वारा समाप्त करना चाहते हो तो निश्चय ही तुम्हारी युक्ति में कुछ कमी रह गयी है। इस प्रकार का बचाव न तो सम्भव है और न ही सम्माननीय। दूसरों के मुँह बन्द करना सबसे सरल और उचित तरीका नहीं है, अपितु यह उचित है कि हम स्वयं को यथासम्भव श्रेष्ठ व्यक्ति बनाने का प्रयास करें। मुझे दण्डित करने वाले लोगों के लिए यही मेरा अन्तिम संदेश है।

जब तक अधिकारी व्यस्त हैं और मुझे उस स्थान तक नहीं ले जाया जाता जहाँ मुझे मरना है, तब तक मैं उन लोगों से भी चंद शब्द कहना चाहूँगा जिन्होंने मेरी मुक्ति के लिए अपना मत दिया था, ताकि वे भी इस निर्णय से समझौता कर सकें। महोदय! इसके लिए मैं आप सबसे कुछ क्षण और माँगना चाहता हूँ। जब तक कानून अनुमति देता है, तब तक क्यों न हम सब परस्पर चर्चा ही करें। मैं आप सभी को अपना मित्र मानता हूँ और इसीलिए चाहता हूँ कि आप मेंरी वर्तमान स्थिति को सही प्रकार से समझें।

न्याय सभा के सदस्यों – जैसा कि कहलाने के आप सभी योग्य हैं – मेरी पास एक अद्भुत अनुभव है। भूतकाल में एक भविष्योन्मुखी स्वर सदैव एक साथी के समान मुझे सुनाई पड़ता था और मैं उसका अभ्यस्त हो गया था। जब भी मैं कोई अनुचित मार्ग चुनने वाला होता था, तो वह स्वर छोटी–से–छोटी बात में भी मेरा विरोध करता था। अब जैसा कि आप सभी देख सकते हैं कि मेरे साथ कुछ ऐसा हुआ है जिसे सामान्यतः सबसे बड़ी विपत्ति माना जाता है; परन्तु न तो आज जिस समय मैंने अपने घर को छोड़ा, न तब जब मैं इस न्यायालय में अपना स्थान ग्रहण कर रहा था और न ही मेरे वक्तव्य के बीच में किसी भी क्षण उस दैवीय संकेत ने मेरा विरोध किया। अन्य परिचर्चाओं में उसने मुझे वाक्य के मध्य में ही टोक दिया था, परन्तु इस अवसर पर समस्त प्रक्रिया के किसी भी भाग में मेरे किसी भी कथन या कार्य के लिए उसने मेरा विरोध नहीं किया। मैं इसके लिए क्या व्याख्या मानूँ ? मैं बताता हूँ। मुझे लगता है कि जो कुछ भी मेरे साथ हुआ है, वह एक वरदान है और मृत्यु को अशुभ स्वरूप मानना एक बहुत बड़ी भूल है। मेरे पास ऐसा सोचने के लिए समुचित आधार भी है, क्योंकि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, यदि वह शुभ फलदायक न होता, तो मेरा सुपरिचित दैवीय संकेत निश्चय ही मेरा विरोध करता। हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि हमारे पास अच्छे फल की आशा करने के अन्य कारण भी हैं। मृत्यु इन दो में से वस्तुतः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक ही है – या तो वह पूर्ण समापन है और मृतकों के पास किसी भी वस्तु की चेतना नहीं होती, या फिर जैसा कि हमें बताया जाता है कि वह वास्तव में एक परिवर्तन मात्र है – आत्मा का एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण। अब यदि कोई चेतना नहीं है बल्कि एक स्वप्नहीन सुषुप्ति मात्र है, तो फिर मृत्यु एक अद्‌भुत लाभ है। कल्पना करें कि किसी व्यक्ति को ऐसी रात्रि चुनने के लिए कहा जाये जब कि वह इतनी गहरी नींद में सोया कि उसे स्वप्न तक ही नहीं आयें और फिर उसे जीवन की अन्य समस्त रात्रियों एवं दिवसों से तुलना करने के लिए कहा जाए, और फिर उससे पर्याप्त विचार के पश्चात् पूछा जाए कि इससे बेहतर व सुखद कितनी रात्रियाँ उसने अपने सम्पूर्ण जीवन काल में गुजारी हैं, तो चाहे कोई महाना राजा हो या फिर सामान्य जन, वह पायेगा कि अन्य सभी रात्रियों की तुलना में ऐसी रात्रियाँ गिनी–चुनी ही होंगी। यदि मृत्यु भी ऐसी ही है तो मैं उसे लाभ ही मानूँगा क्योंकि यदि एक प्रकार से देखें, तो सम्पूर्ण काल एक लम्बी रात्रि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता है। दूसरी ओर, यदि मृत्यु एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन मात्र है और जैसा कि हमे बताया भी जाता है कि सारे मृतक वहाँ उपस्थित हैं, तो महोदय, इससे बड़ा वरदान भला और क्या हो सकता है ? यदि इस तथाकथित न्याय की पहुँच से दूर दूसरे जगत में पहुँचनें पर कोई उन वास्तविक न्यायाधीशों कों पाये, जो उन न्यायालयों में आसीन बताये जाते हैं, यदि मीनोज़, रादामेंथस, ऐकस और ट्रिप्टोलेमस जैसे अर्द्ध–देवों को पाएँ जो पृथ्वी पर अपने समस्त जीवनकाल में सत्कर्मी रहे, तो ऐसे में क्या यह यात्रा सर्वोपरि पुरस्कार से युक्त नहीं होगी? इस बात को इस प्रकार से समझें – औरफियस, मूसियस, हीसियड और होमर से मिलने के लिए आप क्या कुछ नहीं दे देंगें ? यदि यह वृत्तान्त सत्य है तो मैं दस बार ऐसी मृत्यु को प्राप्त करने के लिए तत्पर हूँ । पालामिडीज़ एवं टिलेमोन के पुत्र एज़ेक्स और साथ ही अतीत के उन तमाम नायकों से मिल पाना, जो कि अनुचित न्याय प्रक्रिया के कारण मारे गये, और अपनी नियति की तुलना उनकी नियति के साथ करना निश्चय ही एक आनंददायी अनुभव होगा। और इससे भी अच्छा यह है कि मैं यहाँ के समान ही वहाँ पर भी अपना समय लोगों के मनस का परीक्षण करने में और यह पता लगाने में व्यतीत कर सकूँगा, कि उनमें से कौन वास्तव में बुद्धिमान है और कौन केवल ऐसा मानता है। ट्रॉय के महान नायक, या ओडिसियस, या सिसिफज़ या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फिर वर्णन किये जाने योग्य अनेक अन्य महान पुरुषों और स्त्रियों से मिलने, वार्तालाप करने व परिचर्चाएँ करने के लिए कोई क्या कुछ नहीं दे देगा? निश्चय ही यह एक अकल्पनीय सुख होगा। मेरा मानना है कि ऐसे आचरण के लिए तो मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता, क्योंकि जैसा कि हमें बताया जाता है कि हमारे जगत से इतर सुखों के साथ ही अब वे अनंतकाल के लिए अमर भी हो जातें हैं।

न्यायसभा के सदस्यों! आप को भी मृत्यु को ऐसे ही विश्वास के साथ देखना चाहिए और इस निश्चित विश्वास पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिऐं, कि जीवन में या जीवनोपरान्त एक अच्छे व्यक्ति को कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता और ऐसे व्यक्ति की नियति की अवहेलना देवता भी नहीं कर सकते। मेरा यह वर्तमान अनुभव यंत्रवत नहीं आया है। अब यह स्पष्ट है कि वह समय आ गया है जब मेरे लिए मृत्यु ही श्रेयस्कर है, ताकि मैं अपने भटकावों से मुक्त हो सकूँ। इसी कारण मेरे दैवीय संकेत ने मुझे वापस नहीं भेजा है। मैं अपनी तरफ से उन सभी के प्रति कोई दुर्भावना नहीं रखता, जिन्होंने मुझे आरोपित किया था। यद्यपि उन्होंने ऐसा किसी शुभेच्छा से नहीं किया था, बल्कि वे यह सोच रहे थे कि वे मुझे कष्ट पहुँचा रहे हैं और यह अत्यन्त ही निंदनीय है। तथापि मैं उनसे एक ही निवेदन करना चाहता हूँ। महोदय! जब मेरे पुत्र वयस्क हो जाएँ और यदि आपको लगे कि वो धन अथवा किसी भी अन्य वस्तु को शुभत्व से अधिक महत्व दे रहे हैं, तो आप प्रतिकारस्वरूप उन्हें भी उसी प्रकार परेशान कीजिएगा, जिस प्रकार मैंने आप सभी को परेशान किया है। यदि वे स्वयं को अकारण ही दूसरे से श्रेष्ठ मानें, तो आप उन्हें वैसे ही डाँटिएगा जैसे कि मैंने, महत्वपूर्ण वस्तुओं को नकारने और उन वस्तुओं को महत्त्व देने के लिए जो वास्तव में महत्त्वहीन थीं, आप सभी को डाँटा है। यदि आप ऐसा करेंगें तों मैं समझूँगा कि मुझे और मेरी संतानों को आपके हाथों से न्याय प्राप्त हो गया।

अब समय आ गया है कि हमें चलना चाहिए, मुझे मृत्यु कें लिए और आप सभी को जीवन के लिए, परन्तु किसकी नियति उत्तम है, यह ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं जानता।

दर्शन विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ (उ.प्र.)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *उपर्युक्त अनुवाद के लिए निम्नलिखित सन्दर्भ ग्रंथ साभार उपयोग किये गये हैं:*

   - *ह्यूज ट्रेडेनिक द्वारा यूनानी भाषा से आंग्ल भाषा में अनुवादित : Tredennick, Hugh, "Socrates" Defense (Apology)", The Collected Dialogues of Plato, (ed.) Hamilton & Cairns, Bollingen Series LXXI, Princeton University Press, 1961, p. 3-26,*
   - *बेंजामिन जोवेट द्वारा यूनानी भाषा से आंग्ल भाषा में अनुवादित : Apology By Plato, translated by Benjamin Jowett, An Electronic Classic Series, (ed.) Jim Manis, Pennsylvania State University, Hazelton (Copyright 1998-2013).*
   - *उपर्युक्त दोनों सन्दर्भ ग्रंथ इंटरनेट पर मुक्त संसाधन (Open Electronic Resource for free-and-easy access to all) के रूप में उपलब्ध हैं। अतः शुद्ध अकादमिक उददेश्य के लिए इनका उपयोग प्रतिलिप्याधिकार (Copyright Act) से मुक्त हैं।*

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक-समीक्षा

गाँधी के 'मैं' में अहिंसा के 'हम' की जवाब-तलबी*

अम्बिकादत्त शर्मा

अलबर्ट आइन्स्टाइन जैसे महान् वैज्ञानिक ने गाँधी के विषय में कहा था कि आने वाली पीढ़ी को इस सच्चााई पर विश्वास करना मुश्किल होगा कि मोहनदास करमचंद गाँधी नाम का कोई व्यक्ति वैसे ही हाड़–मांस का पुतला रहा होगा जैसे कि हम और आप हैं। इसी प्रकार विश्व प्रसिद्ध धर्म–विज्ञानी आर.सी. जेनर ने अपनी रचनाओं में 'और युधिष्ठिर लौट आया' कहते हुए गाँधी को सन्दर्भित किया है। सुधीर चन्द्रजी भी अपनी इस नवीन कृति के शीर्षक के माध्यम से गाँधी को एक 'असम्भव सम्भावना' कहते हुए कुछ इसी प्रकार के ऊह को वाग्विग्रहित करने का एक सार्थक प्रयास किया है। यद्यपि पुस्तक के शीर्षक की व्यंजना में बलाघात 'असम्भव' पद पर है लेकिन पुस्तक जैसे–जैसे आगे बढ़ती है वैसे–वैसे बलाघात 'सम्भावना' पद पर एकत्रित होने लगता है। गाँधी के विषय में दिये गये उपर्युक्त और वैसे ही अनेकों उदानपरक वक्तव्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि उनके व्यक्तित्व को आधुनिक मनोविज्ञान में स्वीकृत आत्मरक्षा और आत्मप्रेम जैसी व्यावर्त्तक प्रवृत्तियों से परिभाषित होने वाले 'व्यक्ति' की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। यदि यह सम्भव है तो भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की परिसीमा में गाँधी को मूल्याँकित करने वाले नफा–नुकसान के प्रचलित मानदण्डों को बदलना होगा। सुधीर चन्द्रजी ने इस पुस्तक में गाँधी के इतिवृत्त को एक उपाख्यान बना कर जिस तरह से प्रस्तुत किया है उससे गाँधी को मूल्याँकित करने वाले प्रचलित मानदण्डों की अपर्याप्तता ही संकेतित होती है। जब नेहरू जैसे व्यक्ति भी गाँधी के विषय में ऐसा वक्तव्य दे सकते हैं कि "वे (गाँधी) सैद्धान्तिक और वैचारिक दृष्टि से

*गाँधी एक असम्भव सम्भावना, सुधीर चन्द्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, मूल्य 250/–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कभी–कभी अचम्भे की हद तक पिछड़े हुए थे'' तो इससे गाँधी को समझे जाने वाले तौर–तरीकों पर बलात सन्देह होना स्वाभाविक ही है। वास्तव में गाँधी एक 'विचार–पुरुष' थे और ऐसे विचार–पुरुष जिसमें भारत का 'सनातन सत्य' अपनी सोलहों कलाओं के साथ अवतरित हो कर मानो युगानुरूप नवीकृत हुआ था। इसे भारत भूमि का पुण्य संभार ही कहिये कि यहाँ समय–समय पर ऐसे 'सत्याग्रही' महापुरुष जन्म लेते रहते हैं – **धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे–युगे।**

सुधीर चन्द्रजी औपनिवेशिक और उपनिवेशोत्तर भारत के इतिहास की सामाजिक चेतना को एक बाह्य–द्रष्टा की तरह नहीं देखकर बल्कि उसके अंतरंग होकर अपनी इतिहास साधना का रंग–रोगन करने वाले ख्यातिलब्ध इतिहासकार हैं। इस पुस्तक में भी उन्होंने गाँधी के 'सत्य के प्रयोग' में निजता और सार्वजनिकता के द्वन्द्व को अंतरंग होकर उभारा है। इसीलिए यह पुस्तक पाठक को गाँधी के सत्य के साथ इस कदर अंतरंग बना देती है कि वह गाँधी के साथ–साथ, या उसके बहाने, अपने को देखने में भी मुब्तला हो जाता है। ऐसी स्थिति में पाठक अपने वेदन–तंत्र के मुताबिक हृदय रूपान्तरण की एक अजीबोगरीब मनोवैज्ञानिक स्थिति में अपने को पाता है जहाँ वह मूलगामी रूप से आत्मचेतन मनुष्य होने के नाते गाँधी की सफलता–विफलता को निज की सफलता–विफलता के रूप में गुनने लगता है। सुधीर चन्द्रजी की पुस्तक की यही वह विशिष्टता है जिसके चलते गाँधी पर लिखी गई हजारों पुस्तकों में 'इस' एक और पुस्तक के लिए थोड़ा ही सही लेकिन बखूबी स्थान बनता है। अन्यथा, गाँधी को देवतुल्य सिद्ध करने वाली, उनके सन्तुलित मूल्याँकन का प्रयास करने वाली और यहाँ तक कि गाँधी को लांछित करने वाली किताबों की भरमार तो पहले से ही है।

कहा जाता है कि सत्य तो एक होता है लेकिन सबके अपने–अपने झूठ होते हैं। ऐसे ही गाँधी का सत्य तो भारत की ऋषि परम्परा का सनातन सत्य है जिसे महाभारत जैसी जटिल और बेहद पेचीदे स्थिति में भी विषाद ग्रस्त अर्जुन के समक्ष कृष्ण ने, बतौर गीता की शुरूआत करते हुए, यह कहते हुए उद्घाटित किया था कि –'हे अर्जुन! तू कर्त्तव्य निर्णय के लिए जिस प्रतिज्ञा को आधार बना रहे हो, अर्थात् कौन मरेंगे और कितने मरेंगे, वह कर्त्तव्य निर्णय के लिए आधार बनने योग्य ही नहीं है। प्रज्ञावान् व्यक्ति के लिए जीवन–मृत्यु के विचार का वास्तव में कोई महत्त्व ही नहीं होता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(अशोच्यानन्व शोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासुनगताशूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः)। किसी को भी कुरूक्षेत्र की प्रदत्त आर्थिक–राजनीतिक परिस्थिति में समाधान की यह सूझ कितना अतिक्रामी प्रतीत हो सकता है? इस किताब में भी भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की सियासत के कस्मकस के बीच गाँधी विषयक बहुतों के अपने–अपने झूठ (दृष्टिकोण) में उलझे हुए गाँधी के सत्य को भाँपने की कोशिश की गई है। परन्तु सत्य को भाँपना और भाँपे गये सत्य को निःशंक और बेवाक रूप में खड़ा करना दोनों अलग–अलग बातें हैं। इसमें दूसरा ही लेखकीय धर्म के पुरुषार्थ से सम्बन्धित होता है। इस कृति में सुधीर चन्द्रजी का पुरुषार्थ यह है कि वे एक द्विधा, एक असमंजस की स्थिति में सबकुछ पाठक पर छोड़ देते हैं कि हो सके तो वे अपने–अपने गाँधी विषयक झूठ या फिर वैसे झूठ जो बिना विचारे ही गतानुगतिक रूप से अपना लिए गये हैं, उनमें परिष्कार कर लें। लेखक ने बड़ी ईमानदारी से यह स्वीकार किया है कि नये बौद्धिक प्रभावों के कारण अपने आरम्भिक दिनों में उनका मन गाँधी के प्रति वितृष्णा से भरा हुआ था लेकिन किसी अवान्तर प्रसंग में गाँधी के प्रार्थना–प्रवचनों का संग्रह पढ़ते हुए उन्होंने भी अपने झूठ का परिष्कार किया। इस तरह पीछे मुड़कर गाँधी को देखते हुए उन्हें गाँधी की महानता का आभास तो हुआ लेकिन वे स्वयं कहते हैं कि गाँधी का सत्य अभिव्यक्ति की सरलता के आवरण में छिपा हुआ है। इस कारण वह अपनी सम्पूर्ण गरिमा और गहराई के साथ हमारे वेदन–तंत्र को सीधे–सीधे अर्थबोध नहीं करा पाता है। स्वयं गाँधी को अपने विचारों की दुर्व्याख्या की चिन्ता रहती थी। उन्होंने स्वयं कहा है –"मेरी भाषा सूत्रात्मक है, उसमें स्पष्टता नहीं है, इसलिए उसकी अनेक व्याख्यायें सम्भव हैं।" वास्तव में यह बात गाँधी के ऊपर सौ प्रतिशत सही उतरती है। इसके लिए जरूरी है कि गाँधी का पुनरावलोकन करते हुए गाँधी की सरलता को सशक्त बौद्धिक–विमर्श के धरातल पर खड़ा कर उसके अन्तरार्थ को खोला जाय। परन्तु सर्वसमर्थ होते हुए भी ऐसा न करके लेखक ने स्वयं की सरलता से गाँधी की अपनी सरलता पर एक और आवरण चढ़ा दिया है। इस कारण यह पुस्तक गाँधी के कुछ चुने हुए प्रार्थना प्रवचनों के आधार पर गाँधी के सत्य की सिलसिलेवार झाँकी प्रस्तुत करने वाला 'रीडिंग' भर बन कर रह गई है। यद्यपि यह 'रीडिंग' भी बेशक महत्त्वपूर्ण है और वह इस मायने में कि इसके आधार पर स्वयं सुधीर चन्द्रजी या कोई उनका समानधर्मा गाँधी के सत्य की निःशंक प्रस्तुति करने वाला एक दूसरा ही प्रौढ़ ग्रन्थ रच सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आईये अभी इस दूसरे ग्रन्थ की सम्भावना को दरकिनार करते हुए देखें कि इस पुस्तक की वर्तमान बुनावट क्या और कैसी है। इस पुस्तक के पहले अध्याय का शीर्षक है – **गाँधी : अपना सामना**। स्पष्ट ही इस शीर्षक की व्यंजना लेखक के हृदय को प्रकट करने वाला है लेकिन पूरी पुस्तक पढ़ लेने के बाद, बतौर प्रस्ताविकी, यह अध्याय हल्का लगने लगता है। यह सम्भव है कि लेखक को आसानी से सस्ते में ही गाँधी की महानता और उनके सत्य का एहसास हो गया हो लेकिन इस अध्याय में जिन सामग्रियों और सन्दर्भों के द्वारा लेखक ने गाँधी का सामना किया है उसमें पाठक के लिए कुछ भी वैसा नहीं है कि जिससे पाठक की चेतना यकायक उन्मीलित हो जाय। सुधीर चन्द्रजी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि पुस्तक की प्रेरक–भावना गाँधी के प्रति श्रद्धा रही है जो बचपन से ही उनके संस्कारों में रची–बसी थी। इस बात को उनकी एक आपबीती भी प्रमाणित करती है कि जब उन्होंने सुना कि गाँधी नहीं रहे तो वे विलख–विलख कर रोने लगे। यद्यपि एक समय उनके जीवन में ऐसा भी आया (कॉलेज और यूनीवर्सिटी के दिनों में) कि उनका मन गाँधी के प्रति वितृष्णा से भर गया। काश ! सुधीर चन्द्रजी अपनी इस मध्यवर्ती वितृष्णा का कोई चित्र खींचते तो पाठक के लिए वह श्रद्धा से वितृष्णा और वितृष्णा से पुनः सत्य के साक्षात्कार की ओर लौटने का एक अच्छा सोपान बनता। इसे एक संयोग ही कहिये कि 19वीं सदी में ईसाई हो जाने वाले सवर्ण हिन्दुओं पर काम करने के सिलसिले में गाँधी के प्रार्थना–प्रवचनों का संग्रह पढ़ते हुए उन्हें गाँधी की आत्म–प्रतिमा का प्रबोध हुआ। द्रष्टव्य है कि ये प्रवचन 1 अप्रैल 1947 से 29 जनवरी 1948 के बीच हर रोज शाम प्रार्थना सभा में दिये गये प्रवचन थे। समूचे पुस्तक की जमीन इसी दौरान के प्रार्थना–प्रवचनों के आधार पर तैयार की गई है। यही कारण है कि यह पुस्तक गाँधी के 'अन्त' को समझने की कोशिश करने वाली पुस्तक है। यद्यपि 'अन्त' कोई अपने आप में अलग–थलग वस्तु नहीं होती, वह 'आदि' और 'अद्यतन' को अपने में अन्तर्भुक्त किये रहती है। इस तरह बहुत–सी हल्की–फुल्की बातों के बावजूद लेखक ने गाँधी के 'अन्त' को समझते हुए एक 'अचरज' का सामना किया है और वह न केवल जायज है बल्कि उसमें एक 'सार्वजनीन अचरज' होने का भी सामर्थ्य है। वही गाँधी जिनकी जिजीविषा इतनी प्रबल रही कि वे कहा करते थे कि "उमर से बूढ़ा होने पर भी मुझे नहीं लगता कि मेरा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आन्तरिक विकास रुक गया हो या काया विसर्जन के बाद रुक जायेगा' परन्तु ऐसा क्या हुआ कि वे अन्त के दिनों में अपने पार्थिव अन्त की कामना करने लगे। निश्चय ही यह 'अचरज' हमें गाँधी के सत्य को सम्भव और व्यावहारिक के संकुचित वर्तमान के गिरफ़्त से मुक्त हो कर सोचने और समझने के लिए आत्मचेतन रूप से उकसाता है। एक तरह से देखा जाय तो समूचे ग्रन्थ में इसी 'अचरज' की तफसील की गई है।

पुस्तक का दूसरा अध्याय है –**'गाँधी का स्वराज'**, परन्तु यहाँ गाँधी के स्वराज की कोई हल्की–सी तस्वीर भी नहीं खींची गई है बल्कि 'स्वराज' इस अध्याय का प्रीसपोजिशन भर है। अध्याय की शुरूआत ही गाँधी के एक अरण्यरोदन को सन्दर्भित करते हुए की गई है कि आज तो काँग्रेस और न ही हिन्दू और मुसलमान ही गाँधी की सुनते हैं। इस आधार पर लेखक ने यह दिखाया है कि यों तो 1947 से पूर्व लगभग तीस साल के दौरान गाँधी जितना काँग्रेस के अन्दर रहे उतना ही बाहर भी रहे लेकिन तब गाँधी काँग्रेस से निकलते थे, निकाले नहीं जाते थे, परन्तु अब की परिस्थिति में गाँधी निकाले जा रहे थे। लेखक ने गाँधी को निकाले जाने के मर्म को बड़ी सहूलियत से पकड़ा है और वह मर्म है गाँधी के एकमात्र वारिस जवाहर लाल नेहरू का अपने श्रद्धापुरुष से मोहभंग। जाहिर है कि इस मोहभंग के बीच का मुद्दा स्वराज विषयक दोनों की अलग–अलग या फिर परस्पर विरोधी संकल्पनाओं का होना था। इसका संकेत हमें नेहरू की आत्मकथा (लन्दन, 1942, पृ.73) की उस पंक्ति में मिलता है जहाँ वे कहते हैं कि "हम आपस में उनकी खब्तों और विचित्रताओं की अक्सर चर्चा करते थे, और थोड़ा हँसते हुए कहते थे कि स्वराज के बाद इन खब्तों को बढ़ावा नहीं मिलना चाहिए।" ऐसा भी नहीं कि गाँधी को अपने स्वराज की संकल्पना में निहित खब्तों का पता नहीं था। इसलिए स्वराज प्राप्ति के अपने द्विस्तरीय लक्ष्यों या कहें कार्य योजनाओं का खुलासा करते हुए उन्होंने 1921 के यंग इण्डिया में हिन्द–स्वराज के पाठकों को आगाह करते हुए लिखा था– "मैं पाठकों को एक चेतावनी देना चाहता हूँ। वे ऐसा न समझें कि हिन्द–स्वराज में जिस स्वराज की तस्वीर मैंने खड़ी की है, वैसा स्वराज कायम करने के लिए आज मेरी कोशिश भी चल रही है। मैं जानता हूँ कि अभी हिन्दुस्तान उसके लिए तैयार नहीं है। ऐसा कहने में शायद ढिठाई का भास हो, लेकिन मुझे पक्का विश्वास है कि हिन्द–स्वराज में जिस स्वराज

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की रूपरेखा मैंने बनाई है, वैसा स्वराज पाने की मेरी निजी कोशिश जरूर चल रही है। परन्तु इसमें कोई दो राय नहीं कि आज मेरी सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय तो हिन्दुस्तान की प्रजा की इच्छा के मुताबिक 'पार्लियामेन्टरी' ढंग का स्वराज पाना है।" ... गाँधी के इस स्पष्टीकरण में यह आशय बिलकुल ही साफ झलकता है कि उनकी दृष्टि में भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का प्राथमिक लक्ष्य हिन्दुस्तान में पार्लियामेन्टरी ढंग का राजनीतिक स्वराज पाना था और इस राजनीतिक स्वराज को वास्तविक अर्थों में स्वराज की ओर बढ़ने का सोपान बनाना था। वही स्वराज जिसकी एक हल्की–सी झलक गाँधी के इस कथन में दिखती है कि "मैं तो कहूँगा कि सात लाख गाँव हैं तो सात लाख हुकूमतें बनी, ऐसा मानो...।" भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता गाँधी के लिए साधन थी, साध्य नहीं। व्यापक अर्थों में साध्य था वास्तविक स्वराज, यानि सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा इत्यादि सनातन मूल्यों पर आधारित एक पूर्ण सभ्यता बोध को धरती पर उतारना और उसके अवतरण के लिए प्रथम और उपर्युक्त प्रयोग–भूमि भारत को बनाना।

अब जब 1947 में भारत को पार्लियामेन्टरी ढंग का स्वराज प्राप्त हो गया तो जवाहर लाल नेहरू के लिए तो यही साध्य था, जबकि गाँधी इस उपलब्धि को महज एक साधन मानते थे। ऐसी स्थिति में गाँधी अब नेहरू के साध्य का साधन के रूप में उपयोग न करने लगें, इसके लिए गाँधी के स्वराज की संकल्पना में यूटोपिया का प्रश्न उठाना, उनके प्रयासों और प्रतिबद्धता में खब्त देखना, उन खब्तों को तनिक भी बढ़ावा नहीं देना; यानि कुल मिलाकर गाँधी को मन ही मन सिरे से खारिज कर देना नेहरू के लिए स्वाभाविक ही था। वस्तुतः गाँधी और नेहरू के विवाद आजादी मिलने के निकट पूर्व ही सामने आ गये थे। सुधीर चन्द्रजी ने बड़े ही सटीक तरीके से स्वराज विषयक आबा–ओ–अजदाद (गाँधी) और वारिस (नेहरू) के बुनियादी मतभेद को उजागर करने के लिए इस अध्याय में गाँधी के एक लम्बे पत्र और नेहरू के अनमने जवाब का बड़ा ही चुनिन्दा हवाला दिया है। यों तो गाँधी और नेहरू के बीच पत्राचार तो बहुत हुए हैं, लेकिन जिस पत्र को यहाँ नमूने के तौर पर प्रस्तुत किया गया है, वह बेजोड़ है। इतना ही नहीं, लेखक ने गाँधी के इस आलेखनुमा पत्र में 'हिन्द स्वराज' के नये संस्करण की सम्भावना देखते हुए उसकी विवेचना करने की कोशिश भी की है। सचमुच 'हिन्द्र स्वराज' के नये संस्करण की झलक इस पत्र में देखना एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मौलिक सूझ है क्योंकि 1909 में लिखे गये 'हिन्द स्वराज' में पश्चिम की आधुनिक तकनीकी सभ्यता की आलोचना ज्यादा और बदले में हिन्दुस्तानी स्वराज की रूपरेखा कम है। इस सूझ के माध्यम से लेखक को अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था कि वे गाँधी द्वारा आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को उसकी ज्ञानमीमांसा में ही खारिज किये जाने के बाद हिन्दुस्तान के ग्राम स्वराज की रूपरेखा, एक वैकल्पिक सभ्यता बोध को उपस्थापित करें और साथ ही साथ नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' को भारत के महिमा गान की पुस्तक न मानकर 'रिप्लेसमेंट ऑफ सिविलायजेशन' की पुस्तक करार दें। परन्तु सुधीर चन्द्रजी, इरादा रखते हुए भी, इस अवसर का लाभ नहीं उठा पाये और इस पूरे मजबून को एक छोटे से निष्कर्ष, एक दर्द भरे एहसास में सिमट दिये कि गाँधी को यह बोध हो गया था कि उनके वारिस ने उनको पूरे तौर से नकार दिया है। वस्तुतः यह नकार गाँधी के हिन्द स्वराज का नकार था।

अब शुरू होता है गाँधी के दुःख–दर्द और व्यथा की कहानी। इसीलिए इस पुस्तक के तीसरे अध्याय का शीर्षक दिया गया है –"गाँधी का दुःख"। इसमें बहुतेरे सन्दर्भों और गाँधी के अनेकों वक्तव्यों की टीका करते हुए लेखक ने बड़े विस्तार से गाँधी की वेदना को जगजाहिर किया है। साथ ही साथ दुःखानुभव की नितान्त मनोवैज्ञानिक वैयक्तिकता को ध्यान में रखते हुए उसे इस देश की दुःख–गाथा भी समझा है। यहाँ न तो यह सम्भव है और न ही उचित कि हम लेखक की व्यथा–कथा को फिर से दुहरायें। परन्तु लेखक की जुबानी ही उसका सार यह है कि "एक बार कलकत्ता में बातों ही बातों में गाँधी ने कहा था कि जीवन में जो दारूण दुःख उन्हें भोगने पड़े थे वह काफी थे हुगली नदी में डूबकर आत्महत्या करने के लिए। पर ईश्वर में उनके विश्वास ने उन्हें बचाये रखा था। महादेव देसाई का जाना, कस्तूरबा का जाना, परिजनों का दूर होते जाना, गाँधी के बड़े दुःखों में शामिल थे। पर इन दुःखों को वे अपने अन्दर दबाये रखते थे। जिन दुःखों ने उन्हें त्रस्त कर रखा था वे सार्वजनीन दुःख थे। नोआखाली के हिन्दुओं में उनका कोई सगा या जानने वाला नहीं मरा था कि बाकी सबकुछ छोड़कर पहुँच लिए शान्ति कायम करने वहाँ। न ही बिहार के मुसलमानों में मारा गया था उनका कोई अपना कि नोआखाली छोड़ चल दिये बिहार।" पुनः 1946 के अन्त में गाँधी की हताशा और पस्तता की पराकाष्ठा देखी जा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकती है। उन्होंने निर्मल कुमार बोस को चुपके से बताया था – अपनी डायरी में भी लिखा था – कि उनका शरीर गिर जाता है, और यह भी कहा था कि मेरा दिमाग हार जाता है।

वस्तुतः इस अध्याय में गाँधी की व्यथा–कथा का लेखक ने जैसा मार्मिक चित्रण किया है वह उन दिनों का करुण–क्रन्दन है जब इस देश को निकट भविष्य में किसी भी दिन आजादी मिलना एक तरह से तय हो गया था। यह भी एक अचरज से कम नहीं कि जब अपने किये का कुछ फल मिलने वाला हो तो वह काल मुदिता का हुआ करता है लेकिन कैसी विडम्बना है कि गाँधी के लिए वही समय सबसे कातर और त्रासद काल में रूपान्तरित हो गया। सुधीर चन्द्रजी ने इस अचरज और विडम्बना की तफसील करते हुए बताया है कि गाँधी के दुःख का एक कारण तो यह था कि उन्हें इस बात का एहसास हो गया था कि जिस अंग्रेजी राज में कभी सूरज नहीं डूबता था और फिर कभी खून नहीं सूखता था, वह भी गाँधी के साथ वैसा बर्ताव नहीं कर पाये थे जैसा कि उनके ही वारिस, उनके अपने कहे जाने वाले और काँग्रेसी उनके साथ आजादी मिलने से पहले ही करना शुरू कर दिये। अवधेय है कि गाँधी यह सब कुछ और इससे भी अधिक अपना देशनिकाला तक भी सह सकते थे बशर्ते फलश्रुति ठीक हो। परन्तु स्वाधीनता आन्दोलन की फ़लश्रुति से पहले ही कुछ ऐसी अनपेक्षित और विषम परिस्थितियाँ पैदा हुईं कि गाँधी को यह लगने लगा कि जिस हिन्दुस्तान के स्वराज की लड़ाई वे तीस–पैंतीस वर्षों से सत्य और अहिंसा के अस्त्रों से लड़ रहे थे, उसका कोई नतीजा नहीं निकला। अतः गाँधी की दारूण–वेदना का दूसरा और सबसे बड़ा कारण इस बदली हुई हिंस्र परिस्थिति में अपने सत्य और अहिंसा के प्रयोग के हस्र को उसकी असफलता में देखना है। 16 जून 1947, 14 जुलाई 1947, और इस दौरान गाँधी द्वारा दिये गये अन्य वक्तव्यों से लेखक ने यह दिखाया है कि स्वयं गाँधी ऐसा सोचने लगे थे कि अब तक जो चलती थी वह अहिंसा नहीं थी, बल्कि मन्द–विरोध था। यह अहिंसा दुर्बलों की अहिंसा थी।

कुल मिलाकर इस अध्याय में सुधीर चन्द्रजी ने गाँधी की व्यथा–कथा की विवरणिका प्रस्तुत कर हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आन्दोलन के मनोविज्ञान को फ्रायड के **'दमित के प्रतिशोध'** के सिद्धान्त के आधार पर ही समझा है। साथ ही साथ भारत के विभाजन की जद्दोजहद और नोआखाली में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मुस्लिम पहल से भड़की हिंसा तथा उसकी प्रतिक्रिया में कलकत्ता, बिहार, दिल्ली और पंजाब में हो रहे मार–काट के बीच शान्ति बहाल करने का प्रयास कर रहे गाँधी के मनोविज्ञान की तफसील करते हुए यह दिखाया है कि गाँधी भी ऐसा मान रहे थे कि सत्य और अहिंसा को सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय बनाने का उनका प्रयोग असफल हो गया है। उन्हें तो इस बात का भी बोध हो गया था कि जिस अहिंसा को वे अपना धर्म समझ रहे थे वह कांग्रेस के लिए एक 'नीति' भर थी। नीति उसी वक्त तक धर्म रह सकती है जब तक कि उसे चलाया जाय। कांग्रेस को पूरा अधिकार है कि जिस वक्त जरूरत न रहे उसी वक्त नीति को बदल दे। धर्म की बात और होती है। वह कभी बदल नहीं सकता। यहाँ धर्म और नीति के भेद का तनिक खुलासा करना गाँधी की अहिंसा को समझने के लिए उचित होगा। धर्म में हर कर्म अपने आप में उचित होता है, अपने आप में करणीय, अहेतुक और निष्प्रयोजन ही करणीय। यदि ऐसा नहीं तो वह धर्म नहीं होगा। धर्म भाव से अहिंसा की साधना में वह स्वयं ही उपेय होता है, उपाय नहीं। उसका उद्देश्य उसके परे नहीं, उसी में निष्ठ होता है। परन्तु नीति उपाय है, किसी उपेय की प्राप्ति का साधन। नीति शब्द का प्रयोग विशेषकर राजनीति में होता है लेकिन गाँधी की विशेषता यह है कि वे नीति को भी उपेय अहिंसा का उपाय बनाना चाहते थे। कांग्रेस पर इस सन्दर्भ में टिप्पणी करते हुए गाँधी यही कहना चाहते हैं। गाँधी के दुःख की आन्तरिक वेदना भी यही थी कि वे नीति को उपेय अहिंसा का उपाय बना कर अपनी अहिंसा को समष्टि धर्म नहीं बना पा रहे थे।

पुस्तक के चौथे अध्याय का शीर्षक है –**"अहिंसा की सम्भावना"**। यदि इस सुविचारित शीर्षक को किताब के मुख्य शीर्षक की अन्विति में देखें तो इसे इस किताब का हृदय कहना अनुचित नहीं होगा। यही वह अध्याय है जिसकी पादपूर्त्ति में अगल–बगल के अध्याय लिखे गये हैं और लेखक अपने अप्रकट प्रतिपाद्य को प्रकट करने के लिए अपने ही असमंजस को एक दिशा देना चाहते हैं। यहाँ गाँधी की अहिंसा–साधना को 'अग्नि–परीक्षा' या फिर कहें कि 'यक्ष–परीक्षा' में खड़ा किया गया है। यह दिखाया गया है कि अपने अन्तिम दिनों में किस तरह गाँधी अहिंसा के सत्य को सिद्ध करने के लिए सन्नद्ध हो गये थे। उन्हें यह तो विश्वास हो ही गया था कि जिन्हें वे अपना और हिन्दुस्तान का कायदे आजम समझ रहे थे, वे अब उनके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वधर्म को खब्त समझकर उसे तनिक भी बढ़ावा देना उचित नहीं समझ रहे थे। वे यह भी देख रहे थे कि किस प्रकार स्वाधीनता आन्दोलन की परिणति हिन्दुस्तान के दो टुकड़ों में बँटने की भारी मुसीबत की दहलीज पर पहुँच चुकी थी। इतना ही नहीं बँटवारे से पूर्व और बँटवारे के बाद भी एक ही देश के दो धड़ों में धधकती हुई हिंसा की ज्वाला में गाँधी अपनी अहिंसा को झुलसते हुए देख रहे थे। बड़ी मार्मिक है इन सन्दर्भों में 15 जून 1947 का उनके मौन दिवस पर पढ़ा गया लिखित संदेश –"मैं तो दिवालिया हो गया हूँ। परन्तु अहिंसा का दिवाला कभी नहीं निकल सकता। ...... मेरे जैसे लाखों आदमी भले इस सत्य को इस जीवन में सिद्ध न कर पायें, यह उनकी कमजोरी तथा नाकामयाबी होगी, न कि अहिंसा की"।

इन परिस्थितियों को परिप्रेक्ष्य बना कर सुधीर चन्द्रजी अपनी किताब के इस अध्याय में गाँधी के जीवन के एक नये अध्याय को दिखाने का प्रयास किया है। अब गाँधी के लिए ग्राम स्वराज की लोकतांत्रिक अभियांत्रिकी के मुद्दे पर नेहरू को अपनी बात समझा ले जाना और उस पर अमल करने के लिए उन्हें तैयार कर लेना उनकी प्राथमिकताओं में नहीं था। प्राथमिकता बन गई हिंस्र उन्माद को शान्त करने के लिए सत्य और अहिंसा के प्रयोग की अन्तिम बाजी लगाना और आत्मोत्सर्ग पर्यन्त उसकी रक्षा करना। लेखक ने गाँधी के जीवन के इस पहलू को विभिन्न घटना चक्रों के मध्य जिस संजीदगी से विश्लेषित किया उससे दो बातें उल्लेखनीय रूप में सामने आती हैं। पहला तो यह कि इन दिनों में गाँधी अपनी अहिंसा के सत्य की लाज रखने के लिए सबके बीच रह कर भी एक निजी लड़ाई लड़ रहे थे। दूसरा यह कि वे अपनी लड़ाई की जीत इस बात में देखना चाहते थे कि हिन्दुस्तान–पाकिस्तान के भौगोलिक बँटवारे के बावजूद भी हिन्दू–मुसलमान के नाम पर आवो अवाम के दिलों का बँटवारा न होने पाये। जाहिर है कि आसन्न परिस्थिति में दिलों के बँटवारे को रोककर ही अहिंसा की प्रतिष्ठा की जा सकती थी। इन दोनों ही उद्‌देश्यों को ध्यान में रखते हुए लेखक ने उस दौरान गाँधी द्वारा किये गये आमरण अनशनों के औचित्य और प्रभावमत्ता का विश्लेषण बड़े विस्तार और समारोह के साथ किया है। इसमें पहला अनशन गाँधी ने 1947 में 1 सितम्बर को कलकत्ता में नोआखाली जाने से ठीक पहले किया था। इंस अनशन के द्वारा अहिंसा की जीत इस रूप में हुई थी कि 78 घंटे चले इस उपवास को सुहरावर्दी के हाँथों मौसमी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का रस पीकर तोड़ते हुए गाँधी ने कलकत्ते के मुसलमानों से नोआखाली में हिन्दू-सुरक्षा की जमानत ले ली थी। दूसरा अनशन 13 जनवरी 1948 का है। यह दिल्ली में किया गया था। गाँधी कलकत्ता से चले थे पंजाब के लिए लेकिन दिल्ली की हालत ऐसी बिगड़ी कि बीच में ही उन्हें दिल्ली रुकना पड़ा। दिल्ली में भी गाँधी के भगीरथ प्रयास का फौरन असर हुआ। भले ही अनशन कलकत्ते की तुलना में दो दिन अधिक चला हो, लेकिन दिल्ली में शान्ति बहाल हो गई। गाँधी ने इसके लिए सात शर्तों को रखा था। उन शर्तों का लिखित आश्वासन देने में भी सर्वदलीय सदस्यों को कोई दिक्कत नहीं हुई।

इस दूसरे अनशन की तफसील करते हुए सुधीर चन्द्रजी ने अपने पक्ष में और अपने प्रतिपाद्य की जमीन तैयार करने के लिए एक अच्छी टिप्पणी की है। वह यह कि ".... पर गाँधी की नजर से देखें तो वह लोगों का अपने साथ और गाँधी के साथ धोखा था। अनिवार्यतः, समस्त फौरी कल्याणकारिता के बावजूद, अश्रेयस्कर था। दिलों में घर किये बैठा शैतान दुबक-भर गया था, परिस्थितियों के दबाव में, थोड़ी देर के लिए। मौका पाते ही दिलों को फिर दबोच लेने के लिए तत्पर।" (पृ. 60) यद्यपि टिप्पणी उन्होंने राजेन्द्र प्रसाद के नेतृत्व में सर्वदलीय समिति पर की है लेकिन इसका विस्तार चाहें तो वे इस अनशन को तोड़ने के लिए पाकिस्तान के घड़ियालु आँसू बहाने तक भी कर सकते हैं, क्योंकि तब तक भारत की सरकार पाकिस्तान को 55 करोड़ पैसे अभी नहीं लौटाने का अपना पूर्व फैसला बदल चुकी थी। यह फैसला भी गाँधी के इस अनशन के दबाव में ही हुआ था।

इस तरह कहा जा सकता है कि गाँधी अपने प्राणों की बाजी लगाकर अहिंसा की लाज निजी तौर पर तो बचा ली। परन्तु उनके सन्तोष के लिए यह काफी नहीं था। वे अपनी लोकप्रियता और भारतीय जनमानस में अपने मान-सम्मान के आधार पर अहिंसा की जीत नहीं चाहते थे। इस बदली हुई परिस्थिति में भी वे अहिंसा को आनृशंस्य या कहें निर्बैरता की चैतसिक भूमि पर पहले हिन्दुस्तान में खड़ा करना चाहते थे और बाद में पाकिस्तान तक इसके विस्तार की योजना एवं दृढ़ इच्छा-शक्ति सँजोये हुए थे। परन्तु यह सब गाँधी की खब्तें थीं या फिर चेतना की उच्च भूमि पर किया गया सत्य का साक्षात्कार। इसका निर्णय कैसे किया जाय! सुधीर चन्द्रजी कहेंगे कि यह प्रश्न हमें गाँधी से न पूछ कर स्वयं से पूछना चाहिए। लेखक ने पुछवाया भी है क्योंकि यह पूरी किताब गाँधी के 'मैं' में अहिंसा के 'हम' की तलाश करने के लिए ही लिखी गई है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्त में यह किताब गाँधी को **एक असम्भव सम्भावना** कहते हुए समाप्त होती है। क्या कहना चाहते हैं सुधीर चन्द्रजी गाँधी को असम्भव सम्भावना कहते हुए? उन्होंने दिखाया है कि एक समय ऐसा था जब गाँधी अपने पार्थिव अन्त की कातर कामना करने लगे थे। फिर 125 वर्ष जीने की और क्या हुआ दिल्ली के अनशन के बाद कि उनमें 133 वर्ष से एक वर्ष भी कम नहीं जीने की अदम्य जिजीविषा उभर आई। जाहिर है कि यह सब कुछ अहिंसा के सत्य की निजी जीत का कमाल था। यह जीत फिर से वह सब करने का, पीछे छोड़े गये मुद्दों को फिर से प्राथमिकता में लेकर एक नई लड़ाई शुरू करने का साहस दिया था उन्हें। वे कहा भी करते थे कि लड़ाई को वे अपने नसीब में लिखा कर आये हैं। यह बात अलग है कि गाँधी तो हमारे लिए ही लड़ते रहे लेकिन हम उनकी लड़ाई में सरीक हुए या नहीं। यदि हम सरीक नहीं हुए तो गाँधी की जीत हुई और हार गये हम। हमारी हार ही सम्भवतः गाँधी को असम्भव सम्भावना में रूपान्तरित कर देती है। वस्तुतः इसी अर्थ में यह छोटी–सी किताब अपने आप में कभी खत्म न होने को तैयार एक बड़ी किताब है जो गाँधी के बहाने अपने को भी देखने का अवसर प्रदान करती है।

परन्तु इस किताब के मूल प्रतिपाद्य से सहमति जताते हुए एक दूसरी तस्वीर भी खींची जा सकती है। ऐसी तस्वीर जो गाँधी के दुःख को सान्त्वना दे सके और उन्हें यह भरोसा दे सके कि सत्य और अहिंसा की लड़ाई में हम उनके साथ रहे हैं। गाँधी को इस अर्थ में सम्भावना कहना कि अहिंसा की उनकी निजी–साधना सफल रही और इस अर्थ में उन्हें असम्भव कहना कि वे अहिंसा को सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय अर्थात् समष्टि धर्म नहीं बना सके – एक अर्द्ध सत्य है। सच्चाई यह है कि हिन्दुस्तान के स्वराज की लड़ाई में गाँधी का यह प्रयोग विभाजन से पूर्व और विभाजन के पश्चात् भी पूरे तौर से सफल रहा है। यदि इसकी असफलता देखना आवश्यक हो तो पहले मन में और बाद में धरती पर बने पाकिस्तान के परिप्रेक्ष्य में ही महानायक के इस महान् प्रयोग की असफलता देखी जा सकती है। यह बात सही है कि सत्य और अहिंसा सार्वभौमिक मूल्य हैं और मानव मात्र के लिए श्रेय हैं। गाँधी भी ऐसा ही समझते थे। परन्तु किसी भी मूल्य के अनुप्रयोग की एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि होती है। भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में सत्य और अहिंसा के न्यूनाधिक रूप में चरितार्थ होने का जितना लम्बा उतना ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परीक्षित इतिहास रहा है। यहाँ तो अहिंसा की क्या बात, 'आनृशंस्य' को परम धर्म का दर्जा दिया गया है। आनृशंस्य क्रियात्मक अहिंसा की पूर्व भूमि है जहाँ चेतना में ही द्रोह का अभाव होता है और तब व्यवहार में हिंसा का प्रतिपक्ष 'मैत्री और करूणा' आचरण में उतरते हैं। भारत का यह सांस्कृतिक चरित्र विभाजन के पूर्व ही नहीं विभाजनोपरान्त भी अपनी अहमियत को बनाये रखा है। कुछ एक प्रतिक्रियात्मक घटनाओं की तुला पर भारत के सांस्कृतिक चरित्र को तौलना और अपने को कोसना ठीक नहीं है। यहाँ हम अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए एक अतिविवादास्पद और उतना ही संवेदनशील एक ऐतिहासिक निर्णय को उदाहरण बनाना चाहेंगे। अवधेय है कि 1947 में अत्यन्त प्रतिरोध के बावजूद देश का दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन हुआ। इस विभाजन की परिस्थिति और उसके लिए जिम्मेदार मानस इतना कठोर था कि गाँधी को भी इसके विरोध में आमरण अनशन करने की हिम्मत नहीं हुई। यह उचित भी था क्योंकि अनशन की फलश्रुति हृदय रूपान्तरण में है न कि आत्महत्या में। इस विभाजन ने जहाँ एक इस्लामिक राष्ट्र की संरचना को तो सम्भव बनाया लेकिन दूसरी ओर बतौर प्रतिक्रिया हिन्दू राष्ट्र की अभिकल्पना को जन्म नहीं दिया। जबकि पांकिस्तान बनने के बाद शेष भारत को हिन्दू राष्ट्र बनने का नैतिक अधिकार अपने आप प्राप्त हो गया था। परन्तु शेष भारत ने अपनी सांस्कृतिक आत्म–प्रतिमा और स्वराज को धार्मिक–राजनैतिक इस्लाम की प्रतिक्रिया में परिभाषित करना उचित नहीं समझा। यह यूँ ही नहीं हुआ। दरअसल यह उस संस्कृति और उसके मूल्यबोध का कमाल था जो युगों–युगों से इस महादेश की चेतना का संस्कार करती आ रही थी। क्या यह गाँधी की बहुत बड़ी सफलता नहीं जिस पर स्वयं उन्हें और हम सब को आज भी गर्व करना चाहिए। यह बात दीगर है कि वजूद में आये पाकिस्तान की इस्लामिक सांस्कृतिक–धार्मिक पृष्ठभूमि में सत्य, अहिंसा, प्रेम और करूणा के लिए कितनी जगह रही। क्या यह सत्य नहीं कि जाने– अनजाने में यही सफलता गाँधी को हार मानने से अन्ततः बचा ही लिया और उन्होंने फिर से सत्य और अहिंसा से लड़ाई की पहल एक नये सिरे से की। वह यह कि भूगोल का बँटवारा भले हो गया हो लेकिन दिलों का बँटवारा नहीं होना चाहिए। यदि दिलों के बँटवारे को रोका जा सके तो भूगोल पर बँटवारे की खिंची लकीर को कभी भी मिटाया जा सकेगा। सुधीर चन्द्रजी को हम यहाँ स्मरण दिलाना चाहते हैं कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गाँधी ने इसकी शुरूआत भी बचे–खुचे हिन्दुस्तान से ही किया, पाकिस्तान से पाकिस्तान जाकर नहीं। वस्तुतः कोई भी समाज और संस्कृति जैसे अपनी महत्तम उपलब्धियों का आकलन अपनी सांस्कृतिक आत्म–प्रतिमा की अनुरूपता में करता है वैसे ही ऐतिहासिक निर्णयों के सन्दर्भ में वह अपने समष्टि–धर्म का ही परिचय देता है। भारत और पाकिस्तान दोनों ने ऐसा ही किया है। अब सुधीर चन्द्रजी ही निर्णय लें कि भारत और पाकिस्तान में कौन गाँधी के साथ खड़ा रहा। यह भी कि जो गाँधी के साथ खड़ा नहीं रहेगा, क्या वह अपने वजूद को बनाए रखने के लिए अपने को योग्यतम भी सिद्ध कर पायेगा या नहीं।

दर्शन–विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर–470003 (म.प्र.)

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ISSN 0974 0053